प्रधान संरक्षक

माननीय बलभद्र कुमार हूजा

अवकाश प्राप्त आई० ए० एस० कुलपति

संरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उपकुलपति

सम्पादक

डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०

अध्यक्ष हिंदी-विभाग

सहायक सम्पादक

डा० सत्यव्रत 'राजेश' एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, वेद-विभाग

डा० भगवानदेव पाण्डेय एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, हिंदी विभाग

डा० रामप्रकाश एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग

डा० विजयपाल शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक

शिरोमणि भट्ट

छात्र एम०ए० (द्वितीय वर्ष)

पवन कुमार

छात्र एम०ए० (द्वितीय वर्ष)

महेन्द्र प्रसाद ध्यानी

छात्र-विद्यालंकार (द्वितीय वर्ष)

अनुक्रमणिका

प्रह्लाद

त्रैमासिक हिंदी पत्रिका

वर्ष : 1984 अंक : 1

कविता

ज्योतिर्मय हो वसुधा सारी

(रचयिता - राधेश्याम "आर्य" विद्यावाचस्पति)

फैले वेदों का प्रकाश फिर,
जगे धरा पर नवल आश फिर,
ऋषियों के निर्देशन में नव—
हो भारत का शुचि विकास फिर।

वैदिक धर्म ध्वजा लहराए,
भारत का नर देव कहाए,
पुनः पठन-पाठन वेदों का—
हो भू पर, नव स्वर गहराए।

आर्य बनें वसुधा के वासी,
जाग्रत हों सब भूमि निवासी,
सत्य-धर्म के लिए लड़ें हम,—
निर्भय होकर भारत-वासी।

दीप निरन्तर जले ज्ञान का,
आवाहन हो नव विहान का,
धर्म समन्वित अन्वेषण हो—
वसुधा पर फिर नव्य ज्ञान का।

ज्योतिर्मय हो वसुधा सारी,
नष्ट-विनष्ट रजनि हो कारी,
सत्य-शिवं सुदरन्ता पूरित—
जीवन पद्धति बने हमारी॥

("आर्य गजट" नवम्बर 1982 पृ०-11 से साभार)

आर्यसमाज में सत्यार्थप्रकाश का स्थान

(ले० — महात्मा मुंशी राम जी)

राजकर्मचारियों ने, ईसाईपादरियों और गुप्तचरों की रिपोर्टों पर, सत्यार्थप्रकाश को "आर्यसमाज की बाइबल" The Bible of (Aryasamajs) की उपाधि दी है। और है भी यही ठीक। "बाइबल" के अर्थ हैं पुस्तक के। और पुस्तक बना है पुस्त् पोसयति-ते) से जिसके अर्थ आप्टे के कोष में लिखे हैं—To bind, tie (बांधना, गूंथना)—प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ का नाम पुस्तक (बाइबल, कुरान, ग्रन्थ—एकार्थवाची शब्द ही हैं) केवल इसीलिए नहीं कि उसे ग्रन्थित करके उसकी जिल्द बांधी गई है, प्रत्युत इसलिए भी कि साम्प्रदायिक आचार्यों के आदेश इस मत के अनुयायियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते है।

सत्यार्थप्रकाश का आर्यसमाज में वही स्थान है जो ईसाई चर्च में इंजील (Bible) का, महम्मदी मत में कुरान का, तथा खालसा ग्रन्थ में ग्रन्थसाहब का है। यह व्यवस्था बृटिश राज्य की ओर से भी दी जा चुकी है। जब सं० 1908 ई०मेंब पंजाब के गुप्तचर दल ने रिपोर्ट की थी कि "जब तक सत्यार्थप्रकाश को जब्त नहीं किया जाता तब तक वह अमन के जिम्मेवार न होंगे, "उस समय बृटिश गवर्नमेन्ट ने पांच विचारशील उच्च पदाधिकारियों को इस विचार के लिए नियत किया था। उन महानुभावों ने सत्यार्थप्रकाश का भली प्रकार अनुशीलन करके व्यवस्था दी कि जब तक गवर्नमेन्ट बाइब्ल, कुरानादि का प्रचार रोकने का ज़िम्मा नहीं उठाता तब तक सत्यार्थप्रकाश को हाथ लगाना अन्याय होगा, क्योंकि इस ग्रंथ का आर्यसमाज में वही पद है जो बाइब्ल का ईसाईयों में। सत्यार्थप्रकाश पुस्तक है, इसके ग्रंथकर्ता को हम जानते हैं, वह आर्यसमाज के आचार्य थे। और इसलिए अपने सम्प्रदाय के आचार संगठन के लिए उन्होंने वह ग्रन्थ रचा। इसलिए जो मान एक सम्प्रदाय के धर्म ग्रंथों का होना चाहिए, उसका अधिकार सत्यार्थ-प्रकाश को भी है परन्तु इससे बढ़कर उसका मान करना मनुष्यों को धर्म के आदर्श से गिराना है।

बाइब्ल और कुरान के मुकाबिले में सत्यार्थ-प्रकाश की स्थिति कुछ ऊंची है। बाइब्ल ईसामसीह का लिखा हुआ नहीं, उसके शिष्यों ने उसके काम की समाप्ति के वर्षों बाद अपनी अपनी स्मरण शक्ति पर निर्भर करके उसके जीवन की घटनाओं और

उसके उपदेशों को एकत्र किया। यही व्यवस्था कुरान ग्रंथ साहब इत्यादि की है। परन्तु दयानंद ने अपना ग्रंथ स्वयं लिखवाया और छपाई के समय उसके कुछ फार्मों के प्रूफ भी देखे, इसीलिए उसके ग्रन्थ पर उस प्रकार का व्याघात दोष नहीं लग सकता जिस प्रकार अन्य मतों सम्बन्धी धर्म ग्रंथों पर। लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो परस्पर विरुद्ध तथा असम्भव लेख सन्तमेथ्यू, सन्त ल्यूक, सन्त जानादि ने लिखे हैं उनके लिए मसीह जिम्मेवार हैं। शायद मसीह के सामने ये लेख निकलते तो वह स्वयम् इनका संशोधन कर देता—तात्पर्य केवल यह है कि जहां सम्भव है, कि इन्जोल, कुरानादि में बहुत से भाव उन साम्प्रदायों के आचार्यों के मन्तव्यों के विरुद्ध घुस गए हैं वहां सत्यार्थ प्रकाश के सम्बन्ध में ऐसी सम्भावना कम है।

क्या सत्यार्थप्रकाश निभ्रान्त ज्ञान है ?

तब क्या सत्यार्थप्रकाश को धर्म पंथ का निभ्रान्त मार्गदर्शक समझें ? इस प्रश्न का ऊत्तर ग्रन्थकर्ता ही ठीक दे सकते हैं, हम इतर पुरुष इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकते। ईसा तो शायद ऐसा कुफ्र का दावा न करता परन्तु उसके अनुयायियों ने उसे "शब्द ब्रह्म" का ही पद प्रदान कर दिया है। परन्तु ऋषिदयानन्द ने अपने अनुयायियों को भ्रम में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट माना है कि धर्म का निर्णायक तो ईश्वरीय ज्ञान वेद है, वह तो केवल अपनी योग्यता और बुद्धयानुसार उस सच्चे प्रकाश की ओर निर्देष मात्र करने वाला है। ऋषि भूमिका में ही लिखते हैं—"इस ग्रंथ में जो कहीं 2 भूलचूक से अथवा शोधन तथा छपाने में भूल चूक रह जाये उसको जानने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायेगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका व खंडन मंडन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायेगा। हां जो मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य 2 समझने पर उसका मत संग्रहित होगा।"

जैसे सरल शब्द हैं ! अपने से भूल चूक की संभावना भी स्वीकार करते हैं और शोधने छपवाने की अशुद्धियों को भी ठीक करने के लिए हर समय तैयार हैं। यह किस लिए ? इसलिए कि वह सत्य वैदिक ज्ञान लाने आए थे न कि अपनी महिमा और यश फैलाने की सकाम आकांक्षा से। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि—ईसादि महापुरुष भी ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार और उसी को पुजवाने के लिए ही आये थे और उनके अनुयायियों ने उनके असली उद्देश्य को न समझ कर अपने आचार्यों की पूजा की स्थापना करदी। सन्त जान की पुस्तक का आरम्भ हो बतलाता है कि मसीह शब्द का प्रचार करने आया था। वह शब्द क्या है ?—

In the beginning was the World, and the World was with God, and world was God. The same was in the beginning with God.

"आरम्भ में शब्द था और शब्द परमेश्वर के साथ था और शब्द ही परमेश्वर था वही आरम्भ में परमेश्वर के साथ था।"

ईसा ने शब्द ब्रह्म के प्रचार के लिए ही जन्म लिया था, उसके अनुयायियों ने उसी को ब्रह्म बना डाला। ऊपर के ईन्जीली उद्धृत लेख को पढ़कर सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की श्रद्धामयी वाणी समझ में आ जाती है जहां उन्होंने यह दिखलाया क्योंकि जिन महापुरुषों को परमेश्वर ने संसार को ब्रह्मपूजा का मार्ग दिखाने के लिए भेजा था उन्होंने उसके स्थान में अपनी ही पूजा शुरू करादी अपने विषय में लिखा है—"मैं हूं परम पुरुष को दास।"

परन्तु स्वामी दयानन्द ने भ्रमयुक्त कोई वचन ही नहीं कहा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि सारे संसार का माननीय धर्म पथ प्रदर्शक वेद है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त आचार्य उसी का प्रचार करते रहे और इसलिए जैसे उन का भी वेद विरुद्ध लेख प्रमाण नहीं हो सकता वैसा ही मेरा भी लेख, यदि वेद विरुद्ध हो तो उसे न मानो। ऐसे स्पष्ट लेखों की कुछ अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न थी परन्तु स्वार्थवश निर्बलमनुष्य बार बार सचाई को भूल जाते हैं और इससिए ज्ञान नेत्रों पर उनके अपने डाले हुए पर्दों के बारम्बार हटाने का यत्न करना पड़ता है।

सिद्धांत की ओट में स्वार्थ सिद्धि

आर्य समाज में जो नित्य नए बखेड़े जो खड़े हो जाते हैं उनका कारण अधिकतः स्वार्थ और अज्ञान ही है। अज्ञान को दूर करके भाइयों के पारस्परिक द्वेष को दूर भी किया जा सकता है, परन्तु स्वार्थ ऐसे यन्त्र के मार्ग में बड़ा भारी कंटक है। उस स्वार्थ को भी ज्ञान की किरणों द्वारा छिन्न भिन्न किया जा सकता है परन्तु उसके मार्ग में सिद्धान्तों का ढकोसला रुकावट पैदा करता है। सिद्धान्त बिना तो कोई भी दार्शनिक धार्मिक सम्प्रदाय खड़ा नहीं रह सकता उस पर मेरा कटाक्ष नहीं। आर्य समाज में स्वार्थियों को सिद्धान्तों की उस समय सूझती है जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिसके साथ किसी कारण से द्वेष हो गया हो। वह उपदेशक जो पौराणिक पण्डितों के इस चैलेन्ज का, कि वे सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों पर शास्त्रार्थ करेंगे, यह उत्तर देता है कि हम वैदिक हैं और वैदिक सिद्धान्तों का मूल द्वारा समर्थन करेंगे जब अपने साथ न सहमति रखने वाले आर्य भाई से बदला लेना चाहता है तो उसमें यह छिद्र निकालता है कि उसने ऋषि दयानन्द के किस अर्थ के अतिरिक्त एक शब्द के और अर्थ कर दिए। सत्यार्थप्रकाश में ऐतिहासिक तथा अन्य साधारण घटनाओं पर जो कुछ भी छप गया है, यदि उसी विषय पर आन्दोलन करके कोई भाई अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करे तो उसे सिद्धान्तों से गिरा हुआ समझा जाता है। चिरऋषिदया-

नन्द क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयम् ही निर्णय करते हैं, दूसरों को उसमें ननुनच करने का अधिकार नहीं देते।

केवल द्वेष वा स्वार्थ ही इस प्रकार की स्थापनाओं के कारण नहीं होते, कभी-कभी धर्म में पूर्ण श्रद्धा का अभाव भी ऐसी निर्बलता का कारण होता है। सोलह वर्ष हुए जब ऋषि दयानन्द के लेखों के निभ्रांत होने व न होने पर 'कल्चर्ड और महात्मा पार्टियों" में विवाद चल रहा था तो हमारे कल्चर्ड भाई अपने प्रतिपक्षियों पर यह दोषारोपण करते थे कि वे स्वामी दयानन्द को वेदवत् निर्भ्रान्त मानते हैं। यह दूसरी बात है कि "महात्मा पार्टी" के सभ्य आक्षेप को अपने ऊपर अन्याय समझते थे क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा केवल यह थी कि आचार्य दयानन्द का लेख, योगी होने के कारण, उस समय तक माननीय है जब तक कि वैसा ही कोई योगी पुरुष उसे वेद-विरुद्ध न सिद्ध कर दे ; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि हमारे कल्चर्ड भाई ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश तथा वेदभाष्य में भूलें अवश्य मानते थे। परन्तु जब उसी समय उनके नेता को शास्त्रार्थ में खड़ा होना पड़ा और पं० गोपीनाथ पौराणिक की ओर से प्रश्न हुआ कि उनके विपक्षी सत्यार्थ प्रकाश में भूल मानते हैं व नहीं तो उत्तर मिला - "हम सत्यार्थ प्रकाश का एक एक शब्द ठीक मानते हैं"। ये अत्युक्ति हमारे भाई के मुंह से केवल झूठी लोक लज्जा ने ही कहलवाई। उन्होंने समझा कि यदि वह अपनी दार्शनिक युक्ति से काम लेंगे तो विपक्षी "निगूरा" कह कर ही उन्हें मूर्ख मंडली की दृष्टि में गिरा कर पराजित कर देगा। सारांश यह कि सत्यार्थ प्रकाश के एक 2 शब्द का समर्थन अविद्यावश स्वार्थ और झूठी लोक लज्जा में फंस कर ही किया जाता है। इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि द्वेष पक्षपात और लोक लज्जा के झूठे भय को भुलाकर सत्यार्थ प्रकाश को वही पद (साम्प्रदायिक स्मृति का) प्रदान किया जावे जो उसका वास्तव में है।

सत्यार्थ प्रकाश की वास्तविक स्थिति

वेद के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध में कोई भी भूल नहीं; यह आर्य समाज और उसके नेता आचार्य का मुख्य मन्तव्य है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए निभ्रांत है। सत्यार्थ प्रकाश मनुष्यकृत है। और इसलिए उसमें भूल की संभावना है। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि सत्यार्थप्रकाश मे वही सब छपा है जो ऋषि दयानन्द ने लिखवाया था। जहां छापे की अशुद्धियां प्रत्येक संस्करण में दिखाई देती हैं वहां कई स्थानों में लिखे ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षर सहित पुस्तक में प्रत्यक्ष संशोधन करने वाले पण्डितों का हस्तक्षेप दिखाई देता है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और वेदभाष्य में संस्कृत भाग जहां ऋषि दयानन्द का लिखाया हुआ है वहां आर्य भाषा का अनुवाद रूप भीमसेन और ज्वालादत्तादि पण्डितों का है। वेदांग प्रकाश के तो सारे भाग बनाए ही पण्डितों ने थे

ग्रौर सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने बहुत हाथ पैर मारने का प्रयत्न किया था। मेरी इन प्रतिज्ञाओं का समर्थन उस पत्र व्यवहार पर दीर्घ दृष्टि डालने से होता है जो मैंने सम्वत् 1966 में छपवाकर प्रकाशित किए थे। उस पत्र व्यवहार से यहां सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द के शोधे हुए पत्रों में भी भीमसेनादि परिवर्तन करके कुछ का कुछ छपवा देते थे। इसके सिद्ध करने के लिए एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। व्याकरण के स्त्रैणसिद्धित विषयक ग्रन्थ का एक लेख भीमसेन ने ऋषिदयानन्द के पास देखने को भेजा। वह पत्र व्यवहार के पृ० 50 से 53 तक छपा है। उसको बड़े संशोधनों के पश्चात् ऋषिदयानन्द ने छपने को लौटा दिया। वह पृ० 54 से 56 तक दिया गया है। इस पर ऋषिदयानन्द का नोट प्रबन्धकर्ता वैदिक प्रैस के नाम बड़ा द्योतक है—"तो कोई नोट वा विज्ञापन खंडन मंडन और धर्माधर्म विषयों का ज्ञापक हो वह हम को दिखलाए बिना कभी न छापना चाहिए। यह मेरे पास भेजा सो बहुत अच्छा किया। जो दिखलाए बिना छाप देते तो हमको इसके समाधान में बहुत श्रम करना पड़ता। भीमसेन जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़ा है, उतना ही उसका पाण्डित्य है। अन्यत्र यह बालक है। इसको इस बात की खबर भी नहीं है कि इस लेख से क्या 2 कहां विरोध होकर क्या 2 विपरीत परिणाम होंगे। इसलिए यह नोट जैसा शोध कर भेजा है वैसा ही छपवाना।" आज शोक से देखा जाता हैं कि ऋषिदयानन्द का संशोधन नोट भी अन्य परिवर्तनों सहित छपा।

(असमाप्य)

(संद्धर्म प्रचारक, भाग 27, फाल्गुन। सम्वत् 1972 पृ० 3-4 से साभार)

—0—

स्वामी श्रद्धानन्द का शिक्षा दर्शन-3

ले० – माननीय बलभद्र कुमार हूजा,

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

ब्रह्मचारी कौन है ? वह कैसे ब्रह्म में विचरता है ? वह किस प्रकार ब्रह्म में विचरने योग्य शक्तियों को प्राप्त करता है ? यह सब ब्रह्मचर्य सूक्त के पिछले चार मंत्रों में बतलाया गया है। इस प्रकार अगले मन्त्रों में ब्रह्मचारी को विभिन्न शक्तियों और उपलब्धियों का वर्णन है।

पांचवें मंत्र में कहा गया है कि "वह ज्ञान से पहिला प्रसिद्ध हुआ ब्रह्मचारी दीप्त रूप को प्राप्त होकर तप से ऊंचा उठता है। उससे सबसे बड़े वेद द्वारा ब्राह्मण पैदा होते हैं और सब विद्वान अमृतत्व सहित उत्पन्न होते हैं।

जन्म से तो सभी शूद्र ही होते हैं लेकिन बाद में अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न श्रेणियों में प्रवेश करते हैं। केवल तप से ही ब्रह्मचारी प्रकाशित होकर ऊंचा उठता है। स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि जिस तप के प्रभाव से भौतिक सूर्य का प्रभाव हुआ है उसी तप के बल तीनों (ज्ञान, कर्म उपासना रूपी) वेदों का प्रकाश हुआ। उस ब्रह्म विद्या का जिसके द्वारा प्रकाश हुआ, वही ब्रह्म वेद का जानने वाला और उसमें गति रखने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्मा कहलाया। ब्रह्म वेद की ओर चर गतिमान होकर जिसने पहिले उसमें गमन करके उसको प्राप्त किया इसलिए ब्रह्मा प्रथम ब्रह्मचारी है।

पृथ्वी पर ब्राह्मण का जन्म होना ही श्रेष्ठ है क्योंकि वही धर्म के खजाने का रक्षक है। ब्राह्मण सदा ब्रह्मचारी है क्योंकि वह इन्द्रियों को वश में रखता है और गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पालन करता हुआ भी इन्द्रियों का गुलाम नहीं बनता। वह इतना ऊंचा उठता है कि उसे भोग नहीं खींच सकते।

आगे चलकर स्वामी जी लिखते हैं कि यज्ञ में ब्रह्मा का उच्चासन रहता है, एवं सब यज्ञ पुरुषों को विषयों में चलाना अब भी ब्रह्मा का ही अधिकार है। गिरते हुओं को वही टोक कर गिरने से बचाता है। मनु भगवान ने धर्माधर्म का निर्णय करने के

लिए दस विद्वानों की सभा और न्यून से न्यून तीन वेदों के जुदा जुदा जानने वाले तीन धर्म सभा का जो विधान किया है उसमें जो व्यवस्था, एक चारों वेदों का ज्ञाता तदनुकूल आचरण रखने वाला ब्रह्मचारी है, उसको बड़े-बड़े बहुपक्ष पर भी प्रधानता दी है।

स्पष्ट है कि यदि किसी व्यक्ति का आचरण उपरोक्त अनुसार नहीं है तो वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नहीं रह जाता।

ससार में जब जब गुरु शिष्य परम्परा में बाधा पड़ती है तब ही अधर्म और अशान्ति का दौर दौरा चलने लगता है। जब जब भी ब्रह्मचारी का आदर्श सर्व साधारण की आंखों से ओझल हो जाता है तब तब ही प्रजा का सम्मिलित आत्मा उसके लिए व्याकुल होकर पुकारता है। जब प्रजा के इस अनुताप में स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध भाव प्रवेश करता है तब प्रजा के मालिक फिर से ब्रह्मचारी ब्रह्मा को संसार के उद्धार की आज्ञा देते हैं।

छठे मन्त्र में कहा गया है कि "जो ब्रह्मचारी समिधा से प्रकाशित काले मृग का चर्म धारण किये बढ़ी हुई दाढी मोंछ वाला दीक्षित होकर चलता है वह शीघ्र ही इस पहिले से ऊपर के समुद्र को प्राप्त होता है और लोक संग्रह करके बारम्बार अभिमुख करता है।

ब्रह्मचार्य अवस्था साधन काल है इसमें मनुष्य साधन सम्पन्न बनता है। प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर ही विषयों की दासता को त्याग कर मनुष्य उसका स्वामी बनता है।

ब्रह्मचारी को एक धुन लगी है, और वह धुन है—तत्वान्वेषण की। इसके लिए वह संसार के सुखों को न्योछावर कर देता है और सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है। जिस आश्रम-निवासी ब्रह्मचारी ने आचार्य की दृष्टि से रक्षा पाते हुए सर्दी गर्मी को ताड़ना से ऊंचे उठकर ब्रह्म तेज को धारण कर लिया है, वही दीक्षा का अधिकारी होता है। चाहे वह पाठ विधि समाप्त भी कर चुका हो परन्तु ब्रह्मचारी दीक्षा का अधिकारी उसी समय होता है जब कि वह व्रतस्नातक बनने की योग्यता प्राप्त करले। तब वह पहिले समुद्र को लांघ कर दूसरे समुद्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य पहला समुद्र है। जिसने इस समुन्द्र में गोते खाये हों, जिसने ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए उसके पवित्र नियमों को तोड़ा हो, जिसे पूर्वाश्रम में ही विषयों ने भोगकर खोखला कर दिया हो वह गृहस्थाश्रम रूपी उत्तर समुद्र में प्रवेश करने का साहस क्यों कर सकता है? अविद्याने उसे अन्धा कर दिया है और उसमें देखने की शक्ति नहीं बची। गृहस्थ रूपी समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ अहंकार रूपी बड़े बड़े मगरमच्छ मुंह खोले विचर

रहे हैं, भयंकर भोग की लहरें उठ रही हैं–वहां इन्द्रिय दमन द्वारा सुदृढ़ रहना ब्रह्मचारी का ही काम है।

ब्रह्म को प्राप्त, ब्राह्मण ब्रह्मचारी किस लिए तैयार करता है? क्या विषयों का दास बनने के लिए? स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि यदि यही उद्देश्य होता तो भौतिक गृह से आत्मिक गर्भ में पुनः प्रवेश का क्या मतलब? ब्रह्मचारी सारी तैयारियां इसलिए करता है कि स्वार्थ को भूलकर संसार की पीड़ित प्रजा के दुःख हरण करने के लिए जनता का सच्चा मार्ग दर्शक बने। ऐसे ब्रह्मचारी उत्पन्न करने का अधिकार आर्यावर्त के गुरुकुलों को था। क्या वह समय फिर लाया जा सकता है? यदि नहीं तो संसार के पुनरुद्धार की आशा छोड़ देनी चाहिये।

यह भी सामयिक चुनौती, जिसको लेकर महात्मा मुँशीराम ने गुरुकुल की स्थापना की। स्वामी दयानन्द के देहावसान के बाद उनके अनुयायियों ने आर्य समाज के नियमों की पूर्ति हेतु देश में जहां तहां डी.ए.वी स्कूल खोलने आरम्भ कर दिये थे। परन्तु महात्मा मूंशीराम के इस आंदोलन सो सन्तुष्टि नहीं हुई. उनका विचार था कि डी.ए.वी. आन्दोलन स्वामी दयानन्द के लक्ष्यों को पूरी तरह सरंजाम नहीं दे पायेगा। इसमें यथेष्ट उग्रता नहीं है। इसमें तप, साधना, और कठोर जीवन पर यथेष्ट वल नहीं दिया जा रहा। देश को निस्वार्थ, तपस्वी, व्रती, पराक्रमी, ब्रह्मचारियों की आवश्यकता है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जैसे मगरमच्छों का मुकाबला करने की शक्ति रखते हों।

आर्य समाज का एक नियम है कि सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। आज यदि हम सत्य साक्षात्कार करने को तैयार हैं तो हमें मानना होगा कि देश की सब भयंकर समस्यायें गरीबी और विषमता की हैं और उनके मुख्य कारण हैं, काम और लोभ। हमें इन दो बैरियों को पराजित करना होगा। काम के कारण जनसंख्या वृद्धि होती है और जनसंख्या वृद्धि से गरीबी बढ़ती है। जमाना था जब देश में जनसंख्या बढ़ाने की आवश्यकता थी। तब यह व्यवस्था दी गई थी कि दस तक संतान पैदा करो। आज देश में जन संख्या की बाढ़ आई हुई है। आज के ऋषि मुनि यह व्यवस्था दे रहे हैं कि दो से कम संतान पैदा करो। अर्थात हो सके तो शून्य संतान पैदा करो। रुद्र ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करो, ताकि कामादि मगरमच्छ तुमसे डरें और रोयें।

इसी तरह यदि गम्भीरता से सोचा जाये तो विषमता की महामारी का कारण है, लोभ, परिग्रह वृत्ति और अहंकार की भावना। यथा राजा तथा प्रजा। आज देश को आवश्यकता है ऐसे कठोरव्रती महाबली ब्रह्मचारियों की जो अपरिग्रह और अस्तेय

का व्रत धारण करें, जो पदलोलुपता के शिकार न हों, जो पदों की खातिर अनैतिकता की दल दल में न फंसे, जो इस बात की चिन्ता न करें कि हमें राष्ट्र से क्या प्राप्त होता है, जो इस बात की चिन्ता करें कि हम राष्ट्र को क्या दे रहे हैं। दहेज और छूत छात की बीमारियों की जड़ में लोभ और अहंकार का कीड़ा लगा हुआ है। आखिर हम सभी एक परम पिता के बच्चे हैं, सभी ईश्वर पुत्र हैं। कौन ऊंचा ? कौन नीचा ? यह तो कोरी आसुरी वृत्ति है; एक आदर्श समाज में सब को एक जैसा खाना मिलना चाहिये, सब एक जैसे पहिने, सब एक जैसे रहें, ऊंच नीच का कोई भेद नही होना चाहिये। तभी आपस में प्रेम होगा, तभी राष्ट्र दृढ़ होगा, सुरक्षित होगा।

जब तक देश में कर्त्तव्य निष्ट, इन्द्रियों को वश में रखने वाले, तत्वान्वेशी, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु जैसे ब्रह्मचारियों का समुदाय पैदा नही हो जाता देश का भाग्य अधर में लटकता रहेगा। इसी उद्देश्य को लेकर महात्मा मुंशीराम अपने पुत्रों सहित गंगा के किनारे विकट बनों में गुरुकुल स्थापित कर के जा टिके थे। इतिहास साक्षी है कि गुरुकुल से निकले हुए व्रती स्नातकों ने राष्ट्रोत्थान के महान काम में बड़ी जरूरी भूमिका निभाई है, आज फिर वक्त आ गया है जब गुरुकुल के संचालकों एवं आचार्यकुल को सोचना है कि वह गुरुकुल को किधर ले जा रहे हैं ? क्या वह गुरुकुल की पुण्य भूमि में गुरुकुलीय मर्यादाओं का पालन कर रहे हैं ? यही प्रश्न गुरुकुल के स्नातक मंडल के सामने भी है ? गुरुकुल के स्नातक कुलमाता की सेवा से कैसे विमुख हो सकते हैं ?

(सार्वदेशिक साप्ताहिक दि० १३.३.१९७७ से साभार)

—0—

वैदिक रश्मि

(सम्पादक—आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार)

षष्ठ रश्मि

अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥ —साम० पू० मं० 22

सं० अन्वयार्थ :—(अग्निः न- रयिं वंसते) अग्नि हमें रयिधन देता है।

अन्वयार्थ :—(अग्निः नः रयिं वंसते) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, ज्योतिर्मय, तेजोमय प्रभु हमें रयि अर्थात् ऐश्वर्य प्रदान करें।

व्याख्या :—जो अग्निस्वरूप है, ज्योतिः स्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, तेजः स्वरूप है, ओजः स्वरूप है जो सारे संसार को अपनी ज्योति से ज्योतिर्मय बनाता है, अपने प्रकाश से प्रकाशमय बनाता है, अपने तेज से तेजोमय बनाता है, अपने ओज से ओजोमय बनाता है; जो सब संसार का अग्रणी-अगुआ बनकर सबका नेतृत्व करता है, जो सबको अनुशासन में रखता है। फिर जो उसके अनुशासन में ठीक चलता है वह उसे जानता है, और जो उसके अनुशासन में ठीक नहीं चलता उसे भी वह सर्वज्ञ भगवान् भली भांति जानता है। इसीलिए ही तो वह उसको प्यार देता है और उसको दण्ड देता है।

वह केवल इस अग्नि विद्युत् चन्द्र सूर्य आदि के द्वारा ही सबको प्रकाश नहीं देता वरन् वह तो वेद द्वारा भी सबको ज्ञान देता है, ताकि अग्नि विद्युत चन्द्र सूर्य आदि के प्रकाश में जैसे मनुष्य गर्तम गिरते और ठोकर खाने से बचता है वैसे ही वह ज्ञान के प्रकाश में पापों और अपराधों से भी बच सके। पर अगर कोई वेद को भी न पढ़े और न ही किसी ज्ञानी ध्यानी विद्वान् के ही समीप सत्संग के लिये जाए तो ऐसे मनुष्य पर भी वह प्रभु कृपा करता है, तभी तो वह उसे भी भीतर से सदा सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। वह उसे भी प्रत्येक भले-बुरे कार्य पर अपना मूल्यवान् सुझाव देता है। यदि कोई उसके लिये अच्छा नहीं होता तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे भय शंका और लज्जा का बोध देता है। और अगर उसके लिए वह कार्य हितकारी होता है तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे आनन्द उत्साह और निर्भयता प्रदान करता है। यही उस प्रभु का उसको हर बुरे कार्य से पृथक् करने और हर उत्तम कार्य में लगे रहने की

प्रेरणा देने का अपना एक अद्वितीय प्रकार-तरीका है। ऐसा वह ज्योतिर्मय तेजोमय परम पिता परमात्मा हमें केवल यह ज्ञान प्रकाश आदि ही नहीं देता वरन् वह तो हमें सब प्रकार का रयि-धन-वैभव-ऐश्वर्य भी प्रदान करता है। रयि जो कि प्रभु हमें प्रदान करता है वह केवल इसलिये ही नहीं होता कि उससे हम केवल अपने खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने, रहने-सहने, घूमने-फिरने, देखने-भालने, सुख-आनन्द, प्राप्त करने के साधनों को खरीद कर केवल स्वयं ही सुख भोगते रहें, वरन् इसलिए भी प्रदान किया है कि समय आने पर हम उस रयि को—उस धन-वैभव को परोपकार मे भी लगा सकें, उसका दान भी कर सकें, उससे औरों को भी खिला-पिला सकें, उससे औरों को भी पहना-ओढ़ा सकें, उससे, औरों को रहने-सहने आदि की सुख-सुविधायें उपलब्ध करा सकें।

इसी कारण से वह प्रभु जहां हमें अपने जीवन में सुख-शन्ति पूर्वक जीने के लिये रयि-नानाविध ऐश्वर्य प्रदान करता है वह वहां इस रयि का-इस ऐश्वर्य का हमें सम्भजन करना भी सिखाता है। वह ज्ञानस्वरूप प्रभु हमें वेदज्ञान द्वारा, संसार के नानाविध उदाहरणों द्वारा तथा भीतर से सत्प्रेरणा द्वारा सदा यह सिखाता रहता है, "हम प्रभु को न्याय व्यवस्था से जो ऐश्वर्य प्राप्त करें, उसे ब्रह्मयज्ञ में लगाएं, उसे देवयज्ञ-अग्नि होत्र आदि उत्तम कर्मों में लगाएं उसे हम ज्ञानी विद्वान सन्यासी तपस्वी आदि श्रेष्ठ अतिथियों के मान सम्मान में—सेवा सत्कार में लगायें। अर्थात् हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जो जन सदा निःस्वार्थ भाव से समाज कल्याण के उत्तम कार्यों को करते रहते हैं वे कहीं भूखे न रह जाएं, कभी सर्दी गर्मी से पीड़ित न हो जाएं, उनके समाज कल्याण के कार्यों में कहीं अवरोध न आ जाए इसलिए हमें उनके भोजन—आच्छादन, सुख-सुविधाओं का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए। इनके अतिरिक्त अन्य भी कोई अभ्यागत आ जाए तो उसको भी हमारे द्वारा यथाशक्ति सुख-सुविधा मिल सके ऐसा हम प्रयास करें। हमारे घरों में हमारे वृद्ध माता-पिता, दादा-दादी आदि को भी उस हमारे धन से पर्याप्त सुख शान्ति और आराम मिले सके, ऐसा हमें

1. रयिरिति धननाम, रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः। —निघण्टु

2. वंसते-ददाति-यच्छति (भगवदाचार्य ददातु (सायण)

सदा ध्यान रखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रभु ने जो हमें धन-वैभव दिया है, उस में से दीन-दुःखी-अनाथों को भी भाग जाना चाहिए। मनुष्यों की तो बात दूर रही चींटियों को गौओं को कुक्कुरों को भी उसमें से भाग मिलता रहे, ऐसा हमें ध्यान रखना चाहिए।

हमें प्रभु धन देता है उसका सम्यक सम्यजन कर के ही स्वयं उपभोग करने की प्रेरणा भी वही देता है। हमें चाहिए कि हम पांचों यज्ञों को करके ही स्वयं यज्ञशेष सेवन करें, ऐसी प्रेरणा भी सदा साथ देता रहता है। यदि हम उससे धन-वैभव पाकर उस की प्रेरणानुसार ही इस का उपयोग करते रहेंगे तो इस से हम उसके सदा स्नेह एवं कृपा के पात्र बने रहेंगे। हमें चाहिये कि हम उस से धन—वैभव' प्यार और आशीर्वाद को पाते हुए उसी की ही सत्प्रेरणाओं के अनुसार आचरण करने में ही सदा तत्पर रहें।

("वैदिक रश्मियां" पृ० 40–43 से साभार)

—0—

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः
सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो
होतेव सद्म विधतो वि तारीत्॥
ऋ० 1-73-1॥

अर्थ :—विद्या धर्मानुष्ठान, विद्वान् पुरुषों का संग तथा उत्तम विचार के बिना किसी मनुष्य को विद्या एवं सुशिक्षा का साक्षात्कार तथा पदार्थों का ज्ञान नहीं होता और निरन्तर भ्रमणशील अतिथि विद्वानों के उपदेश के बिना कोई मनुष्य सन्देह रहित नहीं हो सकता। अतएव सभी लोगों को अच्छा आचरण करना चाहिए।

मित्रता बड़ा अनमोल रत्न है

ले० डा० विजयपाल शास्त्री

एम.ए., पी-एच.डी. साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य प्रवक्ता, दर्शन विभाग

कलिमल से कलुषित इस सारहीन जगतीतल में यदि कुछ सार है तो वह मैत्री है। यह नयनों का रसायन है, दुःखानल से तप्त चित्त के लिए आनन्द-संदोह है, मुरझाये हुए मन-सुमन के लिए पावस की रिमझिम है, संसार की क्रूरताओं से परिप्लुष्ट हृदय पर चन्दन का अनुलेप है एवं स्वजनों और परिपन्थियों की छलनाओं से अस्तव्यस्त विचारसरणि का विश्रामोद्यान है। "केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्" सचमुच "मित्र" शब्द के दो अक्षर दो रत्न सदृश हैं। जब जब यह शब्द अन्तस्तल से टकराता है तब तब बलात् स्मृति पटल पर उभरते हैं "रश्मि रथी" मे कर्णमुख से उच्चरित ये शब्द—

मित्रता बड़ा अनमोल रत्न।
कब इसे तोल सकता है धन।
धरती की तो है क्या बिसात।
आ जाय अगर वैकुण्ठ हाथ।
उसको भी न्यौछावर कर दूं!
कुरुपति के चरणों पर धर दूं!!

सोचता हूँ कितना महान् और कमनीय रहा होगा कर्ण का वह हृदय जिसने युधिष्ठिर के राज्य को मैत्री के समक्ष, तृण समझा। ऐसे महान् महनीय आचरण सम्पन्न सत्पुरुषों को जन्म देने के कारण ही यह वसुन्धरा रत्नगर्भा कहलाती है।

मैत्री क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मैं तो यही दूंगा कि अन्तःकरण में स्थित किसी अनिर्वचनीय निमित्त से जायमान किसी का किसी में अकृत्रिम स्नेह ही मैत्री है। स्वार्थ से प्रेरित पुरुष का दूसरे पुरुष में जो भावबन्धन होता है वह मैत्री नहीं बल्कि मित्रताभास होता है। मित्र या मित्रता बनायी नहीं जाती। ये तो स्वाभाविक होते हैं। जिससे प्रेम होना होता है स्वयं हो जाता है। हमारे परिवेश में सैकड़ों और हजारों व्यक्ति हैं किन्तु उनमें से किसी एक या दो से ही आत्मीयता हो पाती है। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनके सम्पर्क में बीस वर्ष रहने पर भी वे अपरिचित से ही लगते हैं।

प्रेम की नैसर्गिकता में प्रमाण है "उत्तररामचरित" का लव और चन्द्रकेतु का युद्ध-प्रसंग। राम ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया है। अश्व के रक्षक के रूप में लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु को नियुक्त किया गया है। अरण्य में घूमते हुए उस अश्व को लव ने पकड़ लिया है। इसी बात को लेकर लव और चन्द्रकेतु समरांगण में आमने सामने खड़े हैं। एक दूसरे से अनभिज्ञ. नाम गोत्र से अपरिचित दर्द और सौजन्य से पूरित, वीरोचित प्रतिद्वन्द्विता से ओतप्रोत। किन्तु अरे! यह क्या! उन दोनों में तो एक दूसरे को देखते हुए अनिर्वचनीय स्नेह का आकर्षण बढ़ने लगा। कौन सा है वह बन्धन जो इन दोनों को निकट ला रहा है? वैरभाव शान्त हो गया है। परस्पर आलिंगन के लिए मन आतुर है। क्या यह वश क्रिया ऐहिक थी? नहीं नहीं। यह वही जन्मान्तर निबद्ध अनुराग था जिसे कालिदास ने "भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि" कहा है। उस अकृत्रिम एवं बद्धमूल स्नेह का निरूपण करते हुए महाकवि भवभूति ने ठीक ही लिखा है—

> व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
> र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
> विकसती हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
> द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

पदार्थों को मिलाने वाला कोई आन्तरिक कारण ही होता है। बाह्य उपाधियों के लिए प्रेम में कोई अवकाश नहीं। यही तो कारण है कि सूर्य के उदय हो जाने पर कमल विकसित हो जाता है और चन्द्रमा के निकलने पर चन्द्रकांत मणि द्रवित हो जाता है।

वस्तुतः मैत्री का कोई कारण नहीं होता। वह अहेतुक होती है। अहैतुक होती है इसीलिए स्थायी होती है। मित्र का यही वैशिष्ट्य है कि वह कुछ भी न करते हुए केवल अपने सान्निध्यमात्र से सुख प्रदान करता है। भवभूति भी कुछ ऐसा ही विचार रखते हैं—

> न किंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
> तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

सौहार्द दैवाधीन होता है, पुरुषाधीन नहीं होता। मित्र पुरुष का द्वितीय होता है, बहिश्चर प्राण होता है। मित्र के लिए कुछ भी गोप्य नहीं होता। व्यक्ति किसी बात को अपने भाई, पत्नी, पिता, एवं पुत्र से छिपा सकता है पर सन्मित्र के समक्ष उसका हृदय हजारों धाराओं में होकर उमड़ पड़ता है। समस्त आवरण टूट जाते हैं। औपचारिकता छिन्न हो जाती है तथा भय और औदासीन्य दूर भाग जाता है। इसी लिए नीतिशास्त्रों में बहुधा सन्मित्र की प्रशंसा की गयी है —

यस्य मित्रेण संलापो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संभाषस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥

अर्थात उस पुरुष के समान भाग्यशाली कोई दूसरा नहीं जो नित्य अपने मित्र के साथ निवास करता है, नित्य हास-परिहास में निरत रहता है और नित्य संभाषण में समय बिताता है।

प्रेम का बन्धन भी विचित्र बन्धन है। इसके सामने बलशालियों का बल तुच्छ है, अभिमानियों का गर्व नगण्य है, दुराग्रहियों की ग्रहग्रन्थि सारहीन है। क्या कारण है कि जो भौरा काष्ठ की कठोर कारा को भेद कर इस पार से उस पार निकल जाता है वह जब कमल की कोमल पंखड़ियों में बन्द हो जाता है तो इतना बेबस हो जाता है कि वह सारी शक्ति लगाकर भी बाहर नहीं आ पाता ? प्राचीन मनीषियों का यह विचार शतशः वास्तविक है—

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृत बन्धनमन्यत् ।
दारुभेद निपुणोऽपि षडंघ्रि—
निष्क्रियो भवति पंकज कोषे ॥

मैत्री अनेक कारणों से होती है, किन्तु यह सकारण मैत्री वास्तविक नहीं बल्कि उसका आभासमात्र होती है। सामान्य लोगों की मित्रता उपकार से होती है। मूर्खों की मित्रता भय अथवा लोभ से होती है किन्तु सज्जनों की मित्रता दर्शनमात्र से होती है। मेरा अपना अनुभव है। कई अवसरों पर ऐसे लोगों से परिचय होता है जिनको देखकर लगता है कि जैसे वर्षों से उन्हें जानता हूँ। कई बार ऐसे भी लोग मिले जिनके प्रथम सम्भाषण से ऐसा मन करता था कि अपना सर्वस्व उस पर न्योछावर कर दिया जाये। क्या आपको कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ ? किन्तु साहब ! एक बात और कहना चाहूंगा जिसे कहते हुए वाणी मुखर नहीं हो पा रही है। मित्रता में जहां इतने गुण हैं वहां इसके दुश्मन भी कम नहीं हैं। न जाने क्यों दो मित्रों के प्रगाढ़ स्नेह को देखकर कुछ लोग अकारण ही जल उठते हैं ? यह अनुभव सिर्फ मेरा ही नहीं कविवर बिहारी के सामने भी कुछ ऐसी ही समस्या थी। तभी उन्होंने शायद व्यथित मन से कहा है—

दृग उरम्मत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गांथ दुरजन हिये दई नई यह रीति ॥

आंखों से आंखें मिलने पर जब दो हृदयों में प्रेम का बीज अंकुरित होता है तो सबसे पहले परिवार से सम्बन्ध टूटता है। परिवार के प्रौढ़ व्यक्ति अनिष्ट की आशंका से दो हृदयों के मिलन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। चलिये परिवार की इस अप्रसन्नता को यदि सकारण और सोद्देश्य मान भी लिया जाय, लेकिन दुर्जनों के हृदय में गांठ क्यों पड़ती है ? इसका कारण कोई खोज नहीं पाया। शायद ऐसे ही लोगों के लिये भर्तृहरि ने "ते के न जानीमहे" कहा था। वस्तुतः प्रेम की रीति बड़ी विचित्र है। इसी से मिलते जुलते विचार रतनहज़ारा के कवि के भी हैं—

अद्भुत गति यह प्रेम की।
लखौ सनेही आय।
जूरै कहूं टूटे कहूँ।
कहूं गांठि परि जाय॥

लेकिन साहब ! दुर्जन जलते हैं तो जलने दो। इसमें हमारा वश भी क्या ? उनके सामने तो तुलसीदास को भी हार माननी पड़ी थी। वे दुर्जनों से घबराते थे। तभी तो उन्होंने कह डाला—

बड़ भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देहु विधाता॥

हे प्रभु ! नरक में निवास करना अच्छा है। किन्तु दुष्टों का साथ न दें।

विश्व का इतिहास उठा कर देख लो। दुर्जनों से सज्जनों ने सदा हार मानी है। इसीलिए किसी संस्कृत कवि को कहना पड़ा—दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्। बिहारी का अनुभव दुष्टों के विषय में सबसे अधिक कटु था। वे तो यहां तक कहते हैं कि संसार में बुरे लोगों का ही सम्मान होता है। विश्वास न हो तो पढ़ लीजिये इस दोहे को—

बसै बुराई जासु तन ताहि को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये खोटे ग्रह जप दान॥

लेकिन मित्रो ! यदि बुरे लोग अपनी बुराई न छोड़ें तो क्या सत्पुरुषों को अपनी अच्छाई छोड़ देनी चाहिए। नहीं, कदापि नहीं। मेरा तो यही कहना है कि दुर्जनों की दुर्जनता के इस पंक में आपका अनमोल मैत्रीरत्न न खो जाए। तीक्ष्ण कण्टकों से आच्छन्न संसार के इस अरण्य में मैत्री ही आपकी रक्षा करेगी। इस अनमोल रत्न को छीनने के लिए अनेक दस्यु आपके आसपास घूमते हैं। उनकी कुदृष्टि से इसे बचायें। यदि आपका कोई सन्मित्र है तो आप पुण्यशाली हैं। क्योंकि—अमित्रस्य दिशः शून्याः—मित्रहीन की सब दिशाएं सूनी होती हैं।

—0—

"गोहत्या और वैज्ञानिक"

ले० डा० त्रिलोक चन्द्र
प्रवक्ता, दर्शन विभाग

भारतवर्ष में गाय का महत्व बहुत अधिक है। यहां की संस्कृति का गाय से विशेष सम्बन्ध है। गऊ को माता कह कर पुकारा जाता है। प्राचीन समय में तो आर्थिक स्थिति भी प्रायः गाय पर ही निर्भर थी। जिसके यहां जितनी अधिक गायें होती थीं, वह उतना ही अमीर आदमी माना जाता था। गाय का दूध और दूध से बनी चीजें मनुष्य का मुख्य भोजन था। उसके गोबर से खाद तैयार होती थी। गाय के बछड़े बड़े होकर बैल बनते हैं, जिनसे खेती होती थी। आज भी भारतवर्ष में अस्सी प्रतिशत से अधिक भूमि पर बैलों से ही खेती होती है। गाय का दूध बहुत ही पवित्र, सात्विक तथा दैविक गुणों से भरपूर माना जाता है परन्तु इतना सब होते हुए भी भारत जैसे धार्मिक देश में गोहत्या होती है।

अब प्रश्न है कि गोहत्या कैसे बन्द हो? महात्मा गांधी ने गोहत्या को भारत के लिए एक कलंक कहा है। आचार्य विनोबाभावे ने भी इसके लिए अनशन किया है। हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय भी इसके लिए प्रयास करते रहते हैं, परन्तु सफलता कुछ भी नहीं मिली।

संसार में देखा जाता है कि जिस चीज का उपयोग जितना अधिक होता है, उतनी ही उसकी मांग बढ़ जाती है और जिसका उपयोग नहीं होता लोग उसे नहीं रखते। विज्ञान के इस युग में बहुत सी चीजों का उपयोग बहुत अधिक बढ़ गया है और इस उपयोग को बढ़ाने का कार्य प्रायः वैज्ञानिकों ने किया है। वैज्ञानिक यदि चाहें तो वे गाय का महत्व और अधिक बढ़ा सकते हैं। इसके लिए निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं, जिससे गाय का उपयोग बहुत अधिक बढ़ जायेगा—

भारत में बहुत सी गायें दूध बहुत कम देती हैं। दक्षिण भारत में तो अधिकतर गायें ऐसी हैं, जो प्रतिदिन एक सेर दूध भी बड़ी कठिनता से दे पाती हैं। कुछ गायें वैसे ही रह जाती हैं। न वे ग्याभिन होती हैं न दूध देती हैं। ऐसी स्थिति में इस मंहगाई के समय में, जबकि एक गाय पालने पर काफी खर्च आता है, कौन गाय

पालेगा ? अब वह समय तो रह नहीं गया जब बड़े-बड़े जंगल चरागाह के रूप में पड़े रहते थे और गाय आदि पशु उनमें चरते थे तथा गाय पालना थोड़ी सी मेहनत के अलावा शेष सब मुफ्त ही था। अब ज़रा-ज़रा सी चीजों पर काफी व्यय होता है। सौ रुपये माह का तो एक गाय का चारे का ही खर्च आता है। खली, दाना आदि अलग रहे। फिर कुछ गायें चार महीने दूध देतीं हैं तो आठ महीने खाली रहती हैं अत: —

(1) वैज्ञानिक अपने अनुसन्धानों द्वारा ऐसा कार्य करें जिससे गाय में दूध की मात्रा बढ़ जाये, जिससे गाय बालक को ज्यादा उपलब्धि हो सके।

(2) बहुत सी गायों में जो ग्याभिन न होने या बार बार ग्याभिन होकर भी ग्याभिन न रहने की बीमारी है, उसे दूर करें, जिससे सभी गायें दूध दे सकें।

(3) गाय से प्राप्त होने वाले दूधादि पदार्थों पर खोज करके पता लगायें कि उसके और क्या क्या उपयोग हो सकते हैं ? कौन कौन सी बीमारियों में गाय का दूध लाभ पहुँचा सकता है ? इसी प्रकार और भी गाय पर नये नये अनुसन्धान किये जा सकते हैं।

उपरोक्त से गाय की उपयोगिता बढ़ेगी। गाय के पालने के लिए किसी को कहने की आवश्यकता नही पड़ेगी। लोग स्वयं गाय पालेंगे। बेरोजगारी के वर्तमान समय में गाय रोजगार का एक साधन बनेगी। उसके अमृत-रूपी दूध की कीमत बढ़ेगी। प्राचीन काल में एक परिवार का खर्च वहन करने में चाहे वह पूर्णरूप से सक्षम न रही हो, पर इस मंहगाई के समय में एक अच्छी गाय एक सीमित परिवार का समस्त खर्च वहन करने में सक्षम होगी। बेरोजगारों को रोजगार मिलेगा। इन कारणों से गाय की कीमत इतनी बढ़ जायेगी कि किसी कसाई के लिए कोई गाय काटने के लिए असम्भव हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि वह ऐसा करेगा ही नहीं। निम्नलिखित दो उदाहरणों से हम अपने विचार की पुष्टि कर सकते हैं—

(क) यह उदाहरण भैंसे का है, जिसकी लगभग पैंतीस चालीस बर्ष पूर्व कोई कीमत नहीं थी। यदि किसी व्यक्ति की भैंस कटिया (स्त्रीलिंग बच्चा) देती थी तो वह प्रसन्न होता था। परन्तु यदि बच्चा कटड़ा (पुल्लींग बच्चा) होता था तो उसे एक भार समझता था, क्योंकि उसका उपयोग कुछ भी नहीं था। जब तक भैंस दूध देती थी, वह जैसे तैसे उसे रखता था, क्योंकि भैंस को दुहने के लिए प्रात: और सायं दोनों समय उसकी आवश्यकता पड़ती थी। भैंस जब दूध देना बन्द कर देती थी तो वह उसे

कसाई को देता था। अधिकतर हिन्दु सीधे कसाई को देना पाप समझते थे। वे उसे जमादार को दे देते थे और जमादार दो-चार रुपये में उसे कसाई को देता था। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि घूम-फिर करके हर हालत में वह कसाई के यहां ही जाता था। कसाई बड़े निर्मम ढंग से उसकी हत्या करके उसका मांस बेच देता था। बस यही उपयोग था उस बेचारे का।

समय ने करवट बदली, किसानों और खेती की तरक्की का समय आया। सरकार और वैज्ञानिकों ने इस ओर ध्यान दिया, जो किसान पहले सामान ढोने के लिए बैलगाड़ी का प्रयोग करता था, जिसे दो बैल एक साथ जुड़कर खींचते थे, उसके लिए बुग्गी का आविष्कार हुआ, जिसे अकेला भैंसा खींचता है। किसान का सामान ढोने का समस्त कार्य अकेला भैंसा ही करता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य कार्य करता है। किसान को उससे बहुत लाभ है। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में वर्तमान समय में यह स्थिति है कि जिस किसान के पास भैंसा नहीं उसे बहुत ही हेय-दृष्टि से देखा गया है, उसे पिछड़ा हुआ किसान माना जाता हैं जबकि पहले भैंसे का रखना निन्दनीय माना जाता है। आज एक अच्छे भैंसे की कीमत भी तीन हजार रुपये से कम नहीं है। आज यदि किसी की भैंस कटड़ा देती है तो वह प्रसन्न होता है, क्योंकि उसकी कीमत है। अब कटड़ों की हत्या प्राय: नहीं के बराबर हो गयी है। ऐसा करवाने के लिए किसी को अनशन करना नहीं पड़ा। उपयोग बढने से स्वयं ही ऐसा हो गया।

(ख) दूसरा उदाहरण यूकेलिप्टिस के वृक्ष का है। वर्तमान युग में इसका प्रचलन बहुत बढ़ रहा है। यहां तक कि आम के वृक्ष कटवाकर यूकेलिप्टिस के पौधे लगवाये जा रहे हैं। विचारणीय बात है कि आम जैसा वृक्ष, जिससे सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है, जिसकी छाया बहुत सुख देने वाली होती है, जिसकी लकड़ी विभिन्न प्रकार के कार्यों में काम आती है और यूकेलेप्टिस की न छाया है और न ही कोई फल प्राप्त होता है। यूकेलेप्टिस जैसे लम्बे वृक्ष खजूर को देखकर किसी कवि ने कहा था—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं फल लागे अति दूर॥

खजूर पर तो दूर ही सही पर फल लगता है। यूकेलिप्टिस पर तो वह भी नहीं। फिर भी वैज्ञानिकों ने इसे ऐसा बना दिया कि वह आज का सबसे अधिक चर्चित वृक्ष है। जंगल के जंगल यूकेलिप्टिस के पौधे लगाये जा रहे हैं। वह तो आम को भी पीछे छोड़ गया है।

इस प्रकार यदि गाय को उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया जाय, किसी भी गाय को बेकार न रहने दिया जाय तो गौहत्या स्वत: ही बंद हो जायेगी। किसी को इसके लिए अनशन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और वह कार्य करा सकते हैं, वैज्ञानिक।

—0—

संविधान का पचीसवाँ अनुच्छेद

लेo—डाo विजयपाल शास्त्री,

एम०ए० साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, प्रवक्ता दर्शन विभाग

पंजाब की जटिल समस्या, जो वस्तुत: न तो जटिल है और न समस्या ही है, ने आज प्रत्येक देश भक्त भारतीय का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कुछ समस्याएं अनजाने और अनचाहे उपस्थित हो जाती हैं किन्तु कुछ समस्याएं जानबूझ कर बनायी जाती हैं। पंजाब की आधुनिक समस्या भी एक ऐसी ही समस्या है जिसे चतुर राजनीतिज्ञों ने संकीर्ण स्वार्थवश पाला हुआ है।

आजकल संविधान के अनुच्छेद 25 की चर्चा प्राय: की जा रही है जिसे अकालियों ने संसद भवन के समक्ष 27.2.84 को सामूहिक रूप से जलाने का प्रयास किया और शायद जला भी दिया। इसी प्रसंग में जिज्ञासा होती है कि आखिर संविधान के अनुच्छेद 25 में ऐसी आपत्तिजनक कौन सी बात है जिस पर सिक्खों ने इतना बावेला मचा रखा है ? आइये देखें कि अनुच्छेद 25 क्या है—

25 (1) सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियों को अन्त:करण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।

(2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विधि के बनाने में रुकावट न डालेगी जो—

(क) "धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक वित्तीय राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन अथवा निबन्धन करता हो।"

(ख) "सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलती हो।"

उपर्युक्त दोनों अनुबन्धों की व्याख्या करते हुए पुनः कहा गया है—

1. कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जायेगा।

2. खण्ड (२) के उपखण्ड (ख) में हिन्दुओं के प्रति निर्देश में सिख जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों का भी निर्देश अंतर्गत है तथा हिंदू धर्म संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ भी तदनुकूल ही दिया जायेगा।

यह है अनुच्छेद २५ जिस पर कुछ उग्रपन्थी अकालियों की आपत्ति है। आपत्ति का स्थान यह है कि हिंदुओं के अन्तर्गत सिखों की गणना क्यों की गयी ? क्यों न उसे एक पृथक् कौम का दर्जा दिया गया और पृथक् कौम मानकर क्यों न उन्हें राष्ट्र घोषित किया जाता ? इसीलिए यह अनुच्छेद जलाया गया। जलाया भी उन लोगों ने जो स्वतन्त्र भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग भारतीय नागरिकता के नाते कर रहे हैं, जिनको इसी संविधान ने मुख्य मंत्री बनाया और उनकी तथा कथित कौम का व्यक्ति ही भारत के सर्वोच्च पद पर आसीन है।

मैं इन लोगों से पूछता हूँ कि सिख हिन्दू नहीं हैं ? जब सिख सम्प्रदाय का आविर्भाव नहीं हुआ था, उस समय वे क्या थे ? क्या वह हिंदू से कोई इतर जाति थी ? सिखों का प्रादुर्भाव समय-सापेक्ष था। गुरु गोविंद ने लड़ाकू सेना के निर्याणार्थ एक विशिष्ट वेशभूषा के साथ अपने शिष्यों का आह्वान किया था। केशों का रखना सिर की सुरक्षा के लिये था ताकि शस्त्र का आक्रमण सिर को हानि न पहुंचा सके। कड़ा भी हाथ की रक्षा के लिये था ताकि कृपाण का प्रहार यदि हाथ पर किया जाय तो वह कट कर न गिर पड़े। कच्छा चुस्ती के लिये था। कंघा केश प्रसाधन के लिये था। कृपाण प्रहार के लिये था। परिस्थितियां बदल गयीं। सिखों की वेशभूषा का उद्देश्य पूर्ण हुआ। इसके पश्चात् भी यदि वे अपनी उसी वेशभूषा को स्थायी रूप से रखना चाहते हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है ? इस पर किसी भारतीय को आपत्ति नहीं। किंतु क्या इस वेश-परिवर्तन से उनकी हिंदू जाति भी बदल गयी ?

विश्व में सात आश्चर्य हैं। मेरे विचार से इसमें एक और आश्चर्य जोड़ दिया जाना चाहिए। वह आश्चर्य है हमारी सरकार का भोलापन। कौन नहीं जानता कि पंजाब की समस्या केवल चण्डीगढ़ के बंटवारे की ही समस्या नहीं है। यह समस्या है सत्ता को प्राप्त करने की। यह समस्या है घृणित राष्ट्रद्रोह की। यह साजिश है कुछ विदेशी शक्तियों की जो भारत की उन्नति को फूटी आंख भी नहीं देखना चाहते। किन्तु वाह री सरकार कुर्बान जाऊं तेरी सादगी पर।

हमारी सरकार इसे चण्डीगढ़ की समस्या मानती है। भोलेपन की सीमा तो देखिये कितने आश्चर्य की बात है ! कि हमारी सरकार अपराधियों के सामने हाथ जोड़े खड़ी है और भीख मांग रही है शान्ति की। कितने प्यार से कहते हैं हमारे नेता—हम गुरद्वारों में नहीं घुसेंगे। कत्ल करो और चले आओ गुरद्वारों में। मन्दिरों की बात और है। वे तो ठहरे दयालु लोगों के, जहां सब कुछ माफ है। डर है तो उन लोगों से जो घर में घुस कर मारते हैं किन्तु भारतीय लोगों से मेरा कहना है कि तुम सन्तोष में विश्वास रखो। सन्तोष का फल मीठा होता है। संविधान तो कागज है। जल जायेगा तो दोबारा बन जायेगा। पच्चीसवां अनुच्छेद ही क्यों ? सम्पूर्ण भी जल जायेगा तो सरकार और बना देगी। संविधान में संशोधन भी करना पड़े तो कौन सी बड़ी बात है ? आखिर शक्ति के सामने कौन नहीं झुकता ? तुम भगवान् का भजन करो और याद करते रहो कबीर के इस दोहे को—

कबिरा तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास।
जैसी करनी वैसी भरनी तू क्यों होय उदास ॥

— 0 —

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

अर्थ :—जो सभी का रक्षक, समस्त जगत् का प्राण. सभी दुःखों को दूर करने वाला, सब सुखों का दाता परमेश्वर है वह सर्वव्यापक एवं सबको उत्पन्न करने वाला है। सर्वश्रेष्ठ एवं ग्रहण करने योग्य शुद्ध स्वरूप दिव्य गुणों से युक्त देव का हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग से चलने के लिये प्रेरित करे।

पुस्तक समीक्षा

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री

एम०ए० साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, प्रवक्ता, दर्शन विभाग।

पुस्तक का नाम	...	"प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग"
लेखक	...	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
प्रकाशक	...	श्री सरस्वती सदन, मसूरी
कुल पृष्ठ	...	३०४
मूल्य	...	२२ रुपये

समस्त सत्यविद्याओं का दिग्दर्शक वेद प्राचीन और आधुनिक मनीषियों की प्रतिभा एवं शोध सम्भार का सम्बल लेकर विलष्टता और दुरुहताओं को गहन गुहा से निकल कर निरन्तर जन सामान्य तक अपना प्रकाश विकीर्ण करता रहा है। वेदों का आर्भाव काल अभी भी विवाद का विषय है। अद्भुत मनीषी श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने इसी काल-सम्बन्धी विवाद को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण किया है। इस शोधपूर्ण पुस्तक के अध्ययन से ज्ञात होगा कि भारतीय इतिहास को भूल भुलैया में वैदिक युग का कौन सा समय निर्धारित किया जाना चाहिये ?

वेद अनादि काल से भारतीयों के लिये प्रेरणा का स्रोत रहे हैं। भारत के इतिहास में एक ऐसा युग रहा है जब वेद की ज्योति सर्वत्र प्रस्फुटित थी, वैदिक मान्यताएं सर्वोपरि थीं। वैदिक विज्ञान का प्रदाता होने के कारण ही भारत सर्वगुरु कहलाता था। ऐसे वैदिक युग से भारतीय जनता अनभिज्ञ रहे यह एक दुःख की बात है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए मनीषी लेखक ने प्रस्तुत शोध पूर्ण ग्रंथ का निर्माण किया।

इस ग्रंथ के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक समूचे ग्रंथ में निष्पक्ष रहा है। पाश्चात्य विचारकों के मत को लेखक ने ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। पाश्चात्य ही नहीं बल्कि भारतीय इतिहासकार तथा वेदज्ञ वेदों का जो अविर्भाव काल निर्धारित करते हैं उसको यथातथ्य रूप से उल्लिखित किया है। इन मतों में कौन-सा मत विश्वसनीय है और समोचीन है इसका निर्णय लेखक ने पाठकों पर छोड़ दिया है।

इस ग्रन्थ की एक और विशेषता पाठकों को देखने को मिलेगी कि वैदिक साहित्य का विकास कब और किन परिस्थितियों में हुआ ? उसका विस्तृत लेखा जोखा प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलेगा। इस परम्परा में लेखक ने पुराणों के उद्धरणों से भी सहायता ली है। प्रायः प्राचीन आर्य विचार धारा के लोग पुराणों को कल्पित कहकर उपेक्षित कर देते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक का व्यक्तित्व विशाल और परिष्कृत परिलक्षित होता है कि उसने पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पाठकों के लिये मैं एक और विशेषता इस ग्रन्थ की बता दूं जो प्रायः अन्य ग्रन्थों में नहीं पायी जाती, वह यह है कि इसमें वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के मूल उद्धरण भी पढ़ने को मिलेंगे। पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय ऐतिहासकों की यह त्रुटि है कि वे वेद का काल निर्णय तो करते हैं किन्तु वेद से अनभिज्ञ होते हैं। उन्होंने जो इधर उधर से हिन्दी पुस्तकों तथा अंग्रेजी पुस्तकों से प्राप्त किया होता है उसी के आधार पर वेद के काल के विषय में अपनी मति बनाते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार वेद के मर्मज्ञ पारखी हैं। उन्होंने वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया है अतः इस कारण इस ग्रन्थ में वैदिक मूल उद्धरण यथास्थान देखने को मिलेंगे जिससे पाठक लेखक के सिद्धान्त को वेद की कसौटी पर कस कर स्वयं देख सकता है।

इस ग्रन्थ में तेरह अध्याय हैं जिनमें वैदिक युग की परिस्थियों को व्यवस्थित रूप में वर्णित किया गया है। राजनीतिक स्थिति, सामाजिक जीवन, आर्थिक व्यवसाय और व्यापार का वर्णन, शासन व्यवस्था, धार्मिक जीवन के अन्तर्गत चिन्तन की धारा सभी कुछ वैदिक सामग्री इस ग्रन्थ में पाठक पढ़ सकेंगे। शोध-छात्रों तथा वेद के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ महान् उपादेय और अनुशीलनीय है।

— 0 —

त्वं न सोम विश्वतो रक्षा राजन् अघायतः।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥
ऋ० 1–97–8 ॥

अर्थ :—हे सोम ! हे राजन् ! तू हमें पाप चाहते वालों से चारों ओर से रक्षा कर। तुझ जैसे से मित्रता रखने वाला कभी नष्ट नहीं होता।

प्रगतिवाद

ले०: शिरोमणि भट्ट - छात्र

एम०ए० (हिंदी) द्वितीय वर्ष

आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद रचनाओं से तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनमें शोषक और शोषित के वर्ग-संघर्ष का भैरव राग गूंजता है। सर्वहारा वर्ग की हिमायत में जो कवितायें क्रान्ति का सन्देश देती हैं और जिनमें प्रोलेतेरियत, जालिम एवं मजलूम के जीवन की विषम समस्याओं की जद्दोजहद प्रकट होती है आज उन्हीं रचनाओं को प्रगतिवादी रचनायें कहा जाता है। प्राचीन सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक परम्पराओं को ध्वस्त करना, आदर्श मर्यादाओं को तोड़ना, रोटी-कपड़े की मांग को ही जीवन की परम सिद्धि मानना, काव्य रीतियों का उल्लंघन करना तथा सर्वथा श्लीलता-अश्लीलता के विचारों को भूलकर जीवन की नग्नावस्था का चित्रण करना ही, कुछ प्रगतिवादी कवियों का कर्तव्य और उनकी कविताओं का लक्ष्य बन चुका है।

प्रगतिवादी काव्य का उद्देश्य केवल भौतिकमानों को जैसे-तैसे बढ़ावा देना मात्र है। प्रगतिवादी कवि के लिए सामंतवाद और पूंजीवाद के बीच का जनद्वन्द्व प्रकट करना ही उसके अनुसार काव्य का प्रमुख कार्य है। उसके लिए जीवन की भौतिक समस्याओं की पूर्ति पहले है। ज्ञात होता है कि काव्य की सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक-सृष्टि से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य भारत में कब से और किस प्रकार उदित हुआ इस पर विचार करने से पूर्व हमें यह जान लेना भी परमावश्यक है कि उपरिलिखित आज की आधुनिक प्रगतिवादी कहलाई जाने वाली काव्य-रचनाओं की विशेषताओं से परे, हमारे यहां साहित्य की प्रगतिशीलता बराबर चलती रही है।

आज के संकुचित अर्थ से मुक्त, प्रगति का ठीक-ठीक अर्थ उस विकासशील साहित्य से है, जो निरन्तर जन-कल्याण के लिए लिखा जाय या लिखा जाता रहा है। यह प्रयास भी एक प्रगतिवादी संघर्ष ही है। इस दृष्टि से मानव-इतिहास के सभी प्रकार के संघर्ष, चाहे वे राजनैतिक हों, आध्यात्मिक हों सभी प्रगतिवाद की लहर के साथ-साथ प्रवाहित मिलेंगे। प्रगतिवाद का वास्तविक अर्थ है व्यापक रूप से किसी

मनोवांछित इच्छा-आकांक्षा की पूर्ति के लिए विशेष गति से आगे बढ़ना और बढ़ने में निरन्तर एक संघर्ष चलता ही जायेगा हम हर देश और काल के साहित्य में इसे किसी न किसी प्रकार अवश्य पाएंगे ही। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि साहित्य के अन्तर्गत प्रगतिवाद का ठीक अर्थ है कि विषम परिस्थितियों के साथ मानव को संघर्ष करने का बल और प्रोत्साहन मिले। नवीन विकास के लिए वह जीवन की नई दिशा, नई व्यवस्था और नये मार्गों को ढूंढ सके और पा भी सके।

हिन्दी-साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों के इतिहास के पढ़कर हम उसमें इस प्रगतिशीलता एवं तत्सम्बन्धी अन्य बातों को पूरा समावेश हुआ पा सकते हैं। चारण-काल में यदि चारणों ने अपनी वीररस प्रधान रचना लिखी तो इसलिए कि उनसे सम्बन्धित राजा का समस्त बिखरे हुए साम्राज्य पर एकछत्र शासन स्थापित हो जाए। भक्तिकाल में यदि भक्ति-भाव-सम्बन्धी रचनायें लिखी गई तो इसलिए कि तत्कालीन लोक-निराश हिन्दू-धर्म-प्राण-जनता को भगवान की कृपा का दृढ़ अवलम्ब मिल जाए।

आज प्रगतिशील कहे जाने वाले साहित्य के अर्थ तथा साहित्य के मुक्त प्रगतिशील अर्थ में एक मौलिक अन्तर यही मालूम होता है कि पहले में मानव-जीवन की संकुचित चहारदीवारी का मर्सिया है और दूसरे में जन-समाज की आवश्यकता के अनुसार मानवीय-चित्तवृत्तियों की ओर उनकी इच्छा-आकांकाक्षों की पूर्ति पाने वाली स्वतंत्र भावनाओं की प्रतिध्वनि। अतः कह सकते हैं, पहला प्रगतिशील कहा जाने वाला साहित्य जीवन के बाहरी पहलू तक ही सीमित है। संक्षेप में सही अर्थों में प्रगतिशील कहलाया जाने योग्य साहित्य वही है, जो जीवनचेतना में सर्वांगीण विकास करने का संघर्ष-भाव जगाता और तदनुकूल कायाकल्प भी करता चले।

आधुनिक काव्य में प्रगतिवाद का उदय छायावादी-रहस्यवादी काव्य लोक-पलायनवादी दर्शन की प्रतिक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है। यों राष्ट्रीय जन-जागरण की काव्यात्मक चेतना का स्फुरण तो बहुत पहले "भारतेन्दु", "गुप्त" तथा "हरिऔध" आदि कवियों की रचनाओं मे हम पा लेते हैं। फलस्वरूप सन् 1934 में ही, गुप्त रूप से, यहां पर भी "भारतीय कम्युनिस्टपार्टी" की पूंजीवादी शासन से द्वन्द्व करने का कार्यक्रम बनना आरम्भ हो गया।

सन् 1936 में मु० प्रेमचन्द के सभापतित्व में खुलेआम "भारतीय प्रगतिशील साहित्य-संघ" की स्थापना हुई, जिसमें साहित्य लिखने का मुख्य उद्देश्य शोषक और शोषित के संघर्ष को जनता में प्रसारित करना था और भारत में भी इसका व्यापक प्रचार होने लगा। सन् 1938 से लेकर 1941 तक की आधुनिक काव्य रचनायें

(यद्यपि उससे भी कुछ पहले प्रेमचन्द के 'गोदान' उपन्यास से ही) प्रायः कॉर्लमार्क्स, एंजिल्स आदि के रोटी-कपड़ा सम्बन्धी द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन के आधार पर ही लिखी जाती रही। साहित्य की यह सम्पूर्ण अवधि ही इस प्रकार की अधिकांश काव्य-रचनाओं से पूर्ण है। जिन प्रगतिवादी कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं वे इस प्रकार हैं :—

1. निराला 2. पन्त 3. बालकृष्णशर्मा 'नवीन' 4. भगवतीचरण वर्मा 5. उदयशंकर भट्ट 6. रामधारी सिंह 'दिनकर' 7. शिवमंगल सिंह 'सुमन' 8. मिलिन्द 9. नरेन्द्र शर्मा 10. अंचल।

महाप्राण 'निराला' ने अपनी 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते' तथा 'अर्चना' आदि काव्य-कृतियों में वस्तुवादी वर्ग-संघर्ष-प्रधान उग्र रचनायें लिखी हैं। 'वह तोड़ती पत्थर, इलाहाबाद के पथ पर, "भिखारी के प्रति" जैसी रचनाओं में वर्गवादी व्यवस्था के प्रति तीव्र क्रान्ति एवं असन्तोष की भावना प्रकट हुई मिलती है। "पन्त जी" की प्रगतिशील रचनाओं में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन और गांधी की सांस्कृतिक चेतना इन दोनों का ही समन्वय देखने को मिलता है। पन्त का प्रगतिवाद जीवन का अतिशय वस्तुपरक और कहीं नग्न रूप को प्रकट करता है। धोबी का नृत्य आदि कवितायें इस बात की साक्षी हैं, यथा—

वह कामशिखा सी रही सिहर,
नट की कटि में लाल सा भंवर,
कँप कँप नितम्ब उसके थर थर,
भर रहे घाटियों में रति स्वर।

परन्तु आगे बढ़कर "पन्त" के प्रगतिवाद में भारतीय संस्कृति के संस्कार दृढ़ होते गए।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की प्रगतिशील रचनाओं में सामाजिक मान मर्यादाओं एवं व्यवस्थाओं के प्रति मात्रा से अधिक असन्तोष प्रकट हुआ, यथा :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आये,
नियम और उपनियमों के ये,
बन्धन टूक टूक हो जायें।

भगवतीचरण वर्मा की प्रगतिवादी रचनाओं में निम्नवर्गीय मानवों के प्रति हिमायत की तीव्र वाणी मुखरित होती है—"चली आ रही भैंसा-गाड़ी चूं चरर मरर चूं चरर मरर" कविता में यह बात स्पष्ट रूप से समझने को मिलती है।

उदयशंकर भट्ट की प्रगतिशील रचनाओं में निम्नवर्गीय समाज का विद्रोह बड़े उग्र रूप से प्रकट हुआ। इन रचनाओं में पुरानी व्यवस्था के निर्माण के विश्वास का चैलेंज प्रकट होता है, यथा—

सिंचित मलयानिल से जिसने कलि के अधरों को खोला था,
रजनी के उन्मुख हृदय से जीवन जहां फूट बोला था।

रामधारी सिंह "दिनकर" की प्रगतिशील रचनाओं में व्यक्ति और समाज, सभ्यता और संस्कृति तथा ऊंच और नीच—इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व प्रकट होता है। कवि की "कुरुक्षेत्र" कृति द्वन्द्व और जनहित कल्याणपक्ष का वातावरण प्रस्तुत करती है, यथा—

आज न उड़के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊंगी,
आज चमेली में न चन्द्र किरणों के चित्र बनाऊंगी।

वस्तुतः 'दिनकर" जी की प्रगतिशील रचनाएं सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कही जाने योग्य हैं।

शिवमंगल सिंह 'सुमन', मिलिन्द, नरेन्द्र शर्मा, अंचल तथा देवराज दिनेश ने भी अच्छी प्रगतिशील रचनायें लिखी हैं। उक्त कवियों की भाषा और भाव का नवीन प्रयोग देखने को मिलता है। प्रगतिशील कविताओं में चेतना को उभारने की अभिव्यंजना प्रकट होती है।

आधुनिक काव्य में प्रगतिवाद आज की जन-मन-चेतना के बिल्कुल उपयुक्त नहीं। इस प्रकार के प्रगतिशील कवियों के लिए काव्य-सृजन करना ही उनका सबसे बड़ा मानवीय धर्म है। उसे तो राष्ट्र-रचना का विशाल प्रयोग बनना होगा। आज भारतीय जनता स्वयं ही अपनी भाग्य-विधाता बन गई है। प्रगतिवादी कवि निर्माण की समतल भूमि पर उन्नति की नई फसल के लिए कुदाल और फावड़े के प्रयोग को शस्य-श्यामला-वसुन्धरा के ऊपर हरियाली के रूप में लहरा दें। इसके विषय में श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कविता उदाहरणार्थ दी गई है, यथा—

कहां गये हल बैल तुम्हारे, ट्रैक्टर औ बुल डोज़र।
तोड़ो खेतों की मेड़ों को जोतो अपनी अम्बर॥
गुरुथल जोतो ऊसर जोतो, जोतो बन्जर धरती।
सोने चांदी की फसलों से भर दो सारी धरती॥

वस्तुत: आज की सच्ची प्रगतिशील कविता का रूप इसी प्रकार निखरता जाय इसी में श्रेय है।

—0—

हतो राजा कृमीणामुतैषां स्थपति र्हत:।
हतो हतमाता कृमि र्हतभ्राता हतस्वसा॥

अथर्व 1-324॥

अर्थ :— मनुष्य अपने दोषों एवं उनके कारणों को उचित ढंग से समझ कर उन्हें नष्ट कर दे, जैसे एक अच्छा वैद्य शारीरिक दोषों के प्रमुख गौण कारणों को समझकर रोगी के रोग को दूर करता है।

समस्याओं का देश-भारत

ले०—नामदेव कुधाटे

एम०ए० प्रवक्ता, दर्शन विभाग

सभ्यता के वर्तमान युग में भारत में आज अनेक समस्यायें सुरसा की तरह मुंह फैलाये हुए हमें भयाक्रान्त कर रही हैं। अनेक समस्यायों में से बेरोजगारी या बेकारी जैसी अनेक समस्याएं बहुत जटिल बन गई हैं। ऐसी समस्याओं ने समाज में हंगामा मचा दिया है।

1. बेरोजगारी

बेरोजगार या बेकार दो प्रकार के हैं— 1. अशिक्षित तथा 2. सुशिक्षित सुशिक्षित बेरोजगार की समस्या अशिक्षित बेरोजगार की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। 'बेरोजगारी' शब्द का अर्थ है 'जबरन रोजगार रहित स्थिति' जोकि शिक्षित नवयुवकों पर थोप दी जाती है। अशिक्षित लोगो में बेरोजगारी मशीनों की देन है। बहुत से मजदूरों को काम नही मिलता।

भारत कृषि प्रधान देश है। पचहत्तर प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर निर्भर करते हैं। किसान एक वर्ष में छः महीने खेत में काम करते हैं और शेष छः महीने वे गप्पों में बिताते हैं। किसान छः महीने खाली रहते हैं। छः महीने में कमाया हुआ धन खाली छः महीने में वे समाप्त करते हैं। इस कारण वे निर्धन हो जाते हैं। वे समय और शक्ति खो देते हैं और आलसी बन जाते हैं। किसान और मजदूर अपना खाली समय कुटीर उद्योग-धन्धों में नहीं लगाते। वे छोटी-छोटी वस्तुएं बना सकते हैं और जीविका के लिए धन कमा सकते हैं परन्तु वे ऐसा नहीं कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण है अशिक्षा।

बहुत से शिक्षित लोग भी एम०ए० और बी०ए० डिग्री प्राप्त करके नौकरी की तलाश में भटकते हैं। इन्टर और हाईस्कूल करने वालों की तो गिनती ही नहीं है। दूषित शिक्षा प्रणाली ने शिक्षितों में बेरोजगारी उत्पन्न की है। यहां केवल सैद्धान्तिक शिक्षा मिलती है। व्यवहारिक शिक्षा शून्य है। जो विद्यार्थी डिग्री लेते हैं काम के

योग्य नहीं हैं। उनको और ट्रैनिंग लेनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त शिक्षित युवक शारीरिक कार्य करने से घबराते हैं। वे कुर्सी पर बैठना चाहते हैं अर्थात वे ऊंचा पद चाहते हैं। वे छोटे कामों से घृणा करते हैं।

बेरोजगारी दण्डित अपराध जैसे चोरी, डकैती, हड़तालें, खूनी क्रान्तियां, युद्ध, रिश्वत, भ्रष्टाचार, आन्दोलन, अनुशासनहीनता आदि उत्पन्न करती है।

२. भिक्षुक समस्या :

भारत में भिखारियों की समस्या भी गम्भीर है। अगर आप किसी रेलवे स्टेशन के पास हरिद्वार तथा ऋषिकेश जैसे पवित्र स्थानों में हरिकी पौड़ी या लक्ष्मण-झूला आदि गंगा जी के किनारे पहुंच जायं तो अपने आपको भिखारियों में घिरा हुआ पाएंगे। जब तक आप उन्हें कुछ न देंगे तब तक वे आपका पीछा नहीं छोड़ेंगे। ये भिखारी आज भारत के सामने एक बड़ी समस्या बने हुए हैं। भारत में भिखारियों की अधिक संख्या होने के कारण ही विदेशी लोग भारत को भिखारियों का देश या गरीब देश कहते हैं।

विभिन्न प्रकार के भिखारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते दिखाई देते हैं। इनमें कुछ बिना घर वाले, कुछ लंगड़े और अपाहिज होते हैं और कुछ काफी हट्टे-कट्टे होते हैं। छोटी आयु के बच्चे भी भीख मांगते हुए दिखाई देते हैं। कुछ ऐसे भी भिखारी होते हैं जो रंगे हुए कपड़े पहनते हैं और एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे पर जाते रहते हैं। यह भी देखा जाता है कि बहुत से बदमाश जनता को यह कहकर ठगते हैं कि वे भविष्य जानते हैं या सोने को दूना कर सकते हैं। स्त्रियों और लालची पुरुष इनके शिकार बन जाते हैं। ऐसे आदमी देश के लिए कलंक हैं।

३. मूल्य वृद्धि

सारे संसार में मूल्यवृद्धि की समस्या है। समाचार-पत्र जनता की शिकायतों से भरे हुए रहते हैं। हर देश में आर्थिक संकट है, परन्तु भारत में यह समस्या सब से अधिक है।

भारत अविकसित देश है, अत। आज एकता की मांगें पूरी करने के लिए पर्याप्त उपज नहीं है। इस कारण प्रत्येक वस्तु का आभाव है, अतः मूल्य वृद्धि की समस्या भारत में सबसे अधिक है।

मूल्य वृद्धि के अनेक कारण हैं। अत्यधिक जनसंख्या, कम उपज, कन्ट्रोल और

राशन, सामाजिक रीति-रिवाज, अधिक मुद्रा, शिल्पादि कलाओं की कमी, हड़तालें और प्राकृतिक प्रकोप जैसे बाढ़ सूखा और अकालदि इसके कुछ कारण हैं। भारत इतना उत्पादन नहीं करता जितना कि आवश्यक है। आयातित वस्तुएं मंहगी होती हैं। भारत की उपज विदेशों की अपेक्षा कम है।

विशेष रूप से भारत में व्यापारियों ने मूल्य वृद्धि समस्या को अधिक गम्भीर बना दिया है। वे वस्तुओं को जमा कर लेते हैं और काले बाजार में ऊंचे दामों पर बेचते हैं। इसके अतिरिक्त काले धन का प्रचलन बहुत बड़ी मात्रा में है। जमाखोरी, तस्करी व काला-बाजारी ने मूल्य वृद्धि को अधिक बल प्रदान किया है। भारत में कहीं न कहीं नित्य फैक्टरियों में हड़तालें होती हैं जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है और कम उत्पादन के कारण कीमतें बढ़ती रहती हैं।

४. जनसंख्या

भारत में जनसंख्या की समस्या अधिक विशाल है। किसी अर्थशास्त्री ने कहा है कि "भारत एक धनवान देश है जिसमें निर्धन लोग निवास करते हैं।" इसका प्रमुख कारण भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या है। चीन के बाद भारत विश्व में सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। भारत की जनसंख्या 80 करोड़ तक पहुंच गई है। दस वर्ष के अन्दर बीस करोड़ की वृद्धि हुई है। माल्थस के अनुसार 25 वर्ष के अन्दर जनसंख्या दुगनी हो जाती है और खाद्यान्न के साधन ठीक आधे रह जाते हैं।

बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण हम अनेक परेशानियां उठा रहे हैं। खाद्यन्न की बहुत कमी है। आवास-समस्या गम्भीर है। जीवन-स्तर नीचे जा रहा है। स्वास्थ्य गिर गया है। बीमारियां बढ़ गई हैं। अधिकांश व्यक्ति भोजन और वस्त्र-रहित रहते हैं। निर्धनता व्याप्त हो जाती है। अन्य आवश्यक वस्तुयें उचित कीमतों पर सरलता से उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। हमारे बच्चे भूखे रहते हैं। वे अशिक्षित और पिछड़े हुए रह जाते हैं। हजारों व्यक्ति फुटपाथ पर बेआराम की नींद गुजारते हैं। बेरोजगार या बेकारी की समस्या बढ़ जाती है।

५. अनुशासनहीनता

विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता दुर्भाग्यवश भारत में समाज का एक सामान्य विषय बन गई है। ज्योंही एक बच्चा किशोरवस्था में प्रवेश करता है वह अपने माता-पिता, अध्यापकों और अन्त में सारे समाज के विरुद्ध विद्रोह करने लगता है। जहां कहीं विद्यार्थियों की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य होता है वे हड़ताल कर देते हैं। वे कक्षा तथा परीक्षा भवन में अपने अध्यापकों तथा घर में अपने माता-पिता आदि का

अपमान करते हैं। वे सिनेमा, सर्कस तथा रेल यात्रा बिना टिकट देखना या सफर करना चाहते हैं। ये सब इस बात को सिद्ध करते हैं कि भारतीय विद्यार्थी अनुशासन-हीनता के मार्ग पर हैं।

अनुशासनहीनता का मुख्य कारण गन्दी राजनीति है हमारे नेता और राज-नीतिक दल उन्हें विध्वंसात्मक मार्ग पर केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उकसाते हैं। वही तरीके वे अपने माता-पिता और अध्यापकों के लिए अपनाते हैं। उन्हें सदैव भटकाया जाता है। विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का दूसरा कारण डिग्री लेने के बाद भी उचित रोजगार न मिलने के कारण निराशा है। उद्देश्यहीन शिक्षा उन्हें बहुत परेशान और दुखी बनाती है। इस कारण वे असभ्य और अनुशासनहीनता-पूर्ण व्यवहार करते है।

स्कूल-कालेजों में छात्रसंघ जैसे विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता उत्पन्न करने के साधन हैं। ये संघ विद्यार्थियों के चरित्र और अच्छे स्वभाव का रचनात्मक कार्य कठिनाई से ही कर पाते हैं। वे अध्यापक वर्ग पर भी हावी रहते हैं।

अनैतिक और हिंसात्मक चलचित्र भी भारतीय विद्यार्थियों को बरबाद कर रहे हैं। जैसा वे पर्दे पर देखते हैं वैसा ही वे अपनी कक्षा, घर और समाज में करते हैं। यह समस्या इतनी तीव्र है कि इसका कोई समाधान दृष्टिगोचर नहीं होता। भारत के विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता विष के समान है जिसका शीघ्र ही समाधान होना चाहिए ताकि देश में खुशहाली उत्पन्न हो सके।

६. दहेज समस्या :

दहेज समस्या या दहेज प्रथा भारतीय समाज के लिए विशेषतया निर्धनों के लिये एक बड़ा अभिशाप और चुनौती है। दहेज एक हस्तान्तरित सम्पत्ति है जो कि विवाह के अवसर पर नगद या सामान के रूप में सीमारहित दी जाती है। दहेज-प्रथा एक कीड़ा है जिसने भारतीय समाज की जड़ को खोखला कर रखा है। वास्तव में विवाह एक धार्मिक पवित्रता है जिसमें दो आत्मायें सदा सदा के लिये सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत करने के लिये सम्पूर्ण जीवन के लिये मिलती हैं परन्तु दहेज वैवाहिक जीवन की खुशियों को मार देता है। हजारों सुन्दर और निर्दोष लड़कियां दहेज की वेदी पर बलि हो जाती हैं। भारत में आज दहेज समस्या ने भयानक रूप धारण कर लिया है। दहेज रूपी रावण लड़कियों रूपी हजारों सीताओं को अपने मोहब्बत-प्यार रूपी राम के सच्चे प्रेम को प्राप्त करने से वंचित रखता और रुलाता है।

दहेज के अनेक कारण हैं जैसे, प्राचीन परम्परा, बुरी सामाजिक प्रथायें, जातिवाद, बेमेल विवाह, मिथ्याभिमान, धन के लिए लालच, बुरी आर्थिक दशा, सामाजिक स्थिति में भेदभाव तथा लड़की का वर्ण आदि। आज दहेज के दाम विभिन्न स्थिति के लड़कों के लिए पृथक–पृथक हैं, जैसे डाक्टरों, इंजीनियर, शिक्षकों, बैंक, जीवन बीमा तथा राज-सरकार में काम करने वाले लिपिकों आदि के लिये। लड़की की योग्यता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अत्याधिक नगद और सामान के रूप में दहेज तथा लड़की की सुन्दरता की आवश्यकता रहती है।

वेतनभोगी माता-पिता अपनी योग्य और सुन्दर कन्याओं के लिए भी उचित वर नहीं कर पाते।

नित्य ही समाचार पत्र निर्धन निर्दोष लड़कियों की उनके ससुराल वालों द्वारा हत्याओं की सूचना लाते हैं, क्योंकि उन्हें उनकी इच्छानुसार दहेज नहीं मिला था। कभी-कभी लड़कियां ससुराल में फटकार और मार निरन्तर पाने के कारण भी आत्म-हत्या कर लेती हैं। दहेज की प्रमुख बुराइयां, हत्याएं, आत्म-हत्याएं, पारिवारिक संघर्ष मानसिक तनाव निम्न जीवनस्तर, निर्धनता लड़का-लड़की के माता-पिता के बीच में तनाव की स्थिति, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, रिश्वत, चोरबाजारी, आदि-आदि दहेज के दुष्परिणाम हैं। यह भारतीय समाज के मस्तक पर बहुत बड़ा कलंक है।

सम्भाव्य समाधान

उपर्युक्त 6 समस्याओं का समाधान मेरी दृष्टि में निम्नलिखित हो सकते हैं, यथा—

1. बेरोजगारी या बेकारी का एकमात्र समाधान जनसंख्या पर रोक लगाना है। विवाह देर से होने चाहिएं। व्यावहारिक शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षा की पद्धति बदलनी चाहिए। शिक्षितों को यथायोग्य रोजगार मिलना चाहिए। इस प्रकार बेरोजगारी की समस्या दूर हो सकती है।

2. भीख को कैसे रोका जाये ? सबके लाभ के लिए सरकार को आगे बढ़ना चाहिए। सर्वप्रथम भीख मांगने को गैर-कानून बना देना चाहिए परन्तु भिखारियों की समस्या इतनी विकट है कि केवल कानून बनाने से भीख मांगने को नहीं रोका जा सकता।

जनता को भी सरकार की सहायता के लिये आगे बढ़ना चाहिए। इसके लिये व्यक्तिगत रूप से दिया जाने वाला दान बन्द कर देना चाहिए। जिन पुरुषों को जरूरत हो और जो भिखारी कार्य करने के इच्छुक हों उन्हें रोजगार दे देना चाहिए। इस प्रकार भिखारियों की समस्या हल हो सकती है।

3. मूल्यवृद्धि रोकने के लिये सरकार को उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न करने चाहिए। उत्पादन वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके बढ़ाना चाहिये। किसानों को वैज्ञानिक खेती, सहयोगी खेती, चकबन्दी और सिंचाई की सुविधायें प्रदान करनी चाहिए, जिससे उत्पादन बढ़े। हड़तालों को गैर-कानूनी घोषित करना चाहिए तथा प्राविधिक वैज्ञानिक ट्रेनिंग औद्योगिक कार्यकर्ताओं को दी जानी चाहिये ताकि वे अधिक उत्पादन बढ़ा सकें और आवश्यक वस्तुओं के मूल्य गिर सकें।

4. जनसंख्या पर नियन्त्रण रखने और परिवारों को सीमित रखने के लिये प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक अनेक तरीके हैं। देरी से विवाह करना चाहिये। वैवाहिक जीवन में आत्मसंयम का सुझाव देना चाहिये इत्यादि। जनसंख्या नियन्त्रण के प्राकृतिक तरीके हैं। आपरेशन, औषधियों और अन्य वैज्ञानिक तरीके इस दिशा में लोगों के लिये सहायक हो सकते हैं। जैसे—'लूप', 'गर्भविरोधी' (निरोध) आदि वस्तुएं भी पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है। नसबन्दी करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना चाहिये। जहां परिवार नियोजन केन्द्र नहीं हैं वहां सरकार को परिवार नियोजन केन्द्र खोलने चाहिए। परिवार नियोजन के लिए कोई भी दबाव या ज़ोर-ज़बरदस्ती का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हिन्दुओं के साथ-साथ मुस्लिम तथा इसाईयों का भी परिवार नियोजन होना चाहिए। इस प्रकार जनसंख्या पर रोक लगाई जा सकती है।

५. विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता को रोकने के उपाय

1. विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रखना चाहिये।

2. स्कूल और कालिज शहर के वातावरण से दूर होने चाहियें।

3 छात्र संघ समाप्त किये जाने चाहिए।

4. विद्यार्थी और शिक्षकों के पाविारिक रूप से मिलकर सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य रचनात्मक रूप में करना चाहिए।

5. विद्यार्थियों की स्वेच्छा से पढ़ने के विषय छांटने चाहिए।

6. विद्यार्थियों के शैक्षिक जीवन के बाद उन्हें उचित रोजगार का आवासन मिलना चाहिए।

7. केवल गुरुकुल और ऋषिकुल प्रणाली के प्राचीन वातावरण का अनुसरण करके ही इस महान् समस्या का समाधान हो सकता है।

6. सरकार को कानून द्वारा दहेज प्रथा पर रोक लगानी चाहिए और उसको प्रोत्साहन देने वालों को कड़ी सजा देनी चाहिए। विवाह के पांच वर्ष के अन्दर किसी स्त्री की मृत्यु पर गुप्त सरकारी छानबीन की जानी चाहिए। तभी दहेज प्रथा बन्द हो सकती है।

भारत में ऐसी ही और समस्याएं हैं, जैसे—भाषा समस्या, विश्वशान्ति समस्या, काश्मीर समस्या, छूआछूत, पंजाब समस्या, शिक्षा समस्या, विवाह समस्या आदि-आदि समस्याएं भारत के सामने मुंह फैलाकर खड़ी हैं। ये सब समाधान की अपेक्षा रखती हैं।

—0—

त्वं राजेन्द्र ये च देवा
रक्षा नॄन्पाह्यसुर त्वमस्मान्
त्वं सत्पति र्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं
सत्यो वसवानः सहोदाः ॥
ऋ० 1-23-174-1

अर्थ :— हे परमैश्वर्यशाली आप वेद व सज्जनों के पालन कर्त्ता, परम प्रशंसित धनवान् हम लोगों को दुखःरूपी समुद्र से उतारने वाले हैं। आप सज्जनों में उत्तम, धन प्राप्ति कराने तथा बल देने वाले हैं। आप न्याय एवं विनय से युक्त हैं। अतएव मेघ सदृश आप हम मनुष्यों का पालन करें। साथ श्रेष्ठ गुण वाले धर्मात्मा विद्वानों की रक्षा करो।

सारांश यह है कि राजा अथवा अधिकारी सत्यनिष्ठ, धर्मात्मा सत्पुरुष एवं विद्वान लोगों को अपने निकट सम्पर्क में रखकर प्रजा पालन करे।

हिन्दी-गद्यकाव्य : उद्भव और विकास

ले०—पवन कुमार - छात्र,
एम०ए० । हिंदी । द्वितीय वर्ष ।

हिंदी-गद्यकाव्य का उद्भव और विकास देखने से पूर्व हमारे लिए यह देख लेना आवश्यक है कि गद्य-काव्य हिंदी की अपनी मौलिक विद्या है या किसी का अनुसरण। हमारे हिंदी लेखकों में आत्महीन की यह भावना है कि हिंदी अपनी मौलिक विद्या नहीं है। वे हिंदी को प्राचीन संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि तथा बंगला और अंग्रेजी-साहित्य की विद्या का रूप मानते हैं।

हिंदी-गद्यकाव्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में भी हमारे अनेक उच्च कोटि के विद्वानों की यह धारणा रही है कि हमारी यह विद्या बंगला के प्रभावस्वरूप ही अस्तित्व में आ पाई है। बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि—कविन्द्र रविन्द्र की 'गीताजली" के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशित एवं प्रचारित होने के उपरान्त ही भारतीय भाषाओं में गद्यकाव्य का लिखा जाना आरम्भ हुआ। इसी आधार पर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे हिन्दी के शीर्ष आलोचकों ने घोषणा कर दी कि हिन्दी गद्यकाव्य मूल रूप में "गीनांजली" का ऋणी है।

वैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी हिन्दी गद्यकाव्य पर "गीतांजली" के प्रभाव को माना है साथ ही हिन्दी के प्रसिद्ध गद्यकाव्य लेखकों में से राय कृष्णदास, महाराज कुमार डाक्टर रघुवीर सिंह, तेजनरायण काक आदि ने मुक्त रूप से "गीतांजली" के प्रभाव को स्वीकार किया है परन्तु दूसरी ओर हिन्दी के अनेक आलोचकों एवं गद्य-काव्य लेखकों ने "गीतांजली के इस प्रभाव को मानने से एकदम इन्कार कर दिया है। ऐसे गद्यकाव्य-लेखकों एवं आलोचकों में शिवशेखर द्विवेदी, जर्नादनराय नागर, वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, विनोदशंकर व्यास तथा दिनेश नन्दिनी डालमिया आदि प्रमुख हैं।

इनमें से कुछ के मत दृष्टव्य हैं। वियोगी हरि ने लिखा है—"गद्यकाव्य लिखने की स्वयं भावस्फूर्ति हुई है। जब पहला गद्यकाव्य तरंगिणी नामक लिखा था तब रवीन्द्र की "गीतांजली" का नाम भी मैंने नहीं सुना था न बंगला से परिचय था और और न तब "गीतांजली" का हिन्दी अनुवाद ही हुआ था, जिसकी शैली कादम्बरी से

मिलती थी। "हिन्दी गद्यकाव्य की प्रसिद्ध एवं अत्यन्त लोकप्रिय लेखिका दिनेश नन्दिनी डालमिया का मत भी इस सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है, यथा-

"शबनम", 'मौक्तिक माल' आदि रचनाएं तो उस काल की हैं जब मैंने मैट्रिक पास भी नहीं किया था और मुझे हिन्दी का वैसा ज्ञान न था जैसा कि एक लेखक को होना चाहिए। फिर मैंने किसी से प्रभावित होकर भी नहीं लिखा। ऐसा लगता है कि कि सहसा होने वाले विस्फोट की तरह भाषा ही यह रूप ग्रहण कर गई।" इस वर्ग के अन्य लेखकों में भी लगभग इसी प्रकार "गीतांजली" या "उद्भ्रान्तप्रेम" के प्रभाव को अस्वीकार किया है।

विद्वानों का ऐसा एक और वर्ग है जो हिन्दी गद्यकाव्य के उदभव तथा विकास में "कादम्बरी" तथा रवीन्द्र की "गीतांजली"-दोनों का ही प्रभाव स्वीकार करता है। डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा ठाकुर जगमोहन सिंह आदि भारतेन्दुकालीन गद्य लेखकों के लेखों में हिन्दी-गद्यकाव्य का उद्भव मानते हैं तथा इस क्षेत्र की रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता को रवीन्द्र का प्रभाव स्वीकार करते हैं। मिश्र जी तथा अवस्थी जी भी दोनों प्रभाव के समन्वित रूप को हिन्दी गद्यकाव्य की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हैं।

हिन्दी-गद्यकाव्य का विवेचन करते समय अनेक विकल्प सामने आते हैं। हिन्दी-गद्यकाव्य का उद्भव "गीतांजली" के प्रभाव से मानना चाहिए या स्वतन्त्र रूप से ? क्योंकि हिन्दी के गद्यकाव्य के लेखकों में से एक वर्ग तो "गीतांजली" के प्रभाव को स्वीकार करता है तथा दूसरा वर्ग इस प्रभाव को मानने से इन्कार करता है।

वस्तुस्थिति यह है कि गद्यकाव्य का प्रारम्भिक रूप तीन प्रकार के प्रभावों का फल है। पहला प्रभाव बाण की "कादम्बरी" की शैली का है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमघन आदि ने "कादम्बरी" की सालंकार, सानुप्रासमयी भाषा से प्रभावित होकर अपनी गद्य-रचनाओं में काव्यात्मक तत्वों का समावेश किया है। इन लोगों ने स्वतन्त्ररूप से गद्यकाव्य नहीं लिखा था। ब्रजनन्दन सहाय का "सौन्दर्योंसक" नामक उपन्यास इतिवृत्तहीनसा कथा-काव्य है, जिसमें गद्यकाव्य के अनेक गुण मिल जाते हैं। "उद्भ्रान्त प्रेम" प्रकाशन सन् 1915 में हुआ जबकि "सौन्दर्योपासक" सन् 1911 में प्रकाशित हुआ। इस समय तक "गीतांजली" का अस्तित्व भी न था। अतः उक्त लेखकों ने बंगला के प्रभाव को स्वीकार नहीं किया हैं।

दूसरी ओर राय कृष्णदास, महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह, तेजनारायण

काक आदि का गद्यकाव्य है जिस पर "गीतांजली" का गहरा प्रभाव है और इस प्रभाव को इन लोगों ने स्वीकार किया है। राय कृष्णदास का "साधना" नामक गद्य काव्य-संग्रह हिन्दी गद्यकाव्य का प्रकाश स्तम्भ माना जाता है। परवर्ती अनेक गद्य-काव्य के लेखकों ने "साधना" की शैली को अपनाया है। अतः इस वर्ग के लेखकों पर भी बंगला का प्रभाव है।

गद्य लेखकों का तीसरा वर्ग वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, दिनेशनन्दिनी डालमिया आदि का है जिन्होंने किसी भी बाह्य प्रभाव को स्वीकार न कर अपनी उद्वेलित भावनाओं को ही अपने गद्यकाव्य की जननी बताया है। इनमें से नवीन लेखकों पर तो "साधना" का प्रभाव माना जा सकता है परन्तु वियोगी हरि, शास्त्री जी एवं वर्मा जी पर इसका प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि "साधना" का प्रकाशन 1916 में हुआ था, वियोगी हरि की "तरंगिणी" 1919 मे तथा शास्त्री का "अन्तःस्थल" 1921 में प्रकाशित हुआ था। आगे चलकर लेखकों के एक वर्ग ने स्वतन्त्र रूप से इसी परम्परा को आगे बढ़ाया था जिनमें दिनेश नन्दिनी का नाम महत्वपूर्ण है। वैसे स्वतन्त्र रूप से हिन्दी-गद्यकाव्य का आरम्भ राय कृष्णदास की "साधना" से ही माना जाता है।

परन्तु हम इस विवेचन में उन साहित्यिक महर्षि का नाम भूल जाते हैं जो वास्तव में हिन्दी-गद्यकाव्य के जन्मदाता थे, और वे थे "भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।" हिन्दी-गद्य में भावावेश से परिपूर्ण भावात्मक शैली के दर्शन सर्वप्रथम भारतेन्दु की रचनाओं में होते हैं।

"चन्द्रावली" भावात्मक गद्य का एक अनुपम उदाहरण मानी जाती है। भारतेन्दु के इस भावात्मक गद्य का अनुकरण उसके समकालीन एवं परवर्ती अनेक लेखकों ने किया था। भारतेन्दु का यह भावात्मक गद्य उनके नाटकों, निबन्धों तथा विभिन्न ग्रंथों के समर्पणों आदि में बिखरा पड़ा है। उनके इस भावात्मक गद्य का उदाहरण द्रष्टव्य है। —"नाथ,

एक यह नया कौतुक देखो! तुम्हारे सत्य पर! चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है। भला हम क्या कहें? जो हरिश्चन्द्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा, पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना। हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत कुछ है, बस इतना ही सही। लो, सत्य हरिश्चन्द्र तुम्हें समर्पित है—अंगीकार करो। छल मत समझना, सत्य का शब्द साथ है, कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है।"

हिन्दी-गद्यकाव्य के उद्भव में भारतेन्दु के इस योगदान का महत्व डाक्टर कमलेश की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है—"हिन्दी गद्य में भारतेन्दु द्वारा जिस भावुकता का समावेश किया गया था और जिसने उनकी कृतियों में चाहे वे निबन्ध हों या उनके द्वारा सम्पादित पत्रों की टिप्पणियां, कवित्व का समा`श किया था, उसीने गद्यकाव्य को जन्म दिया और उन्हीं के मण्डल द्वारा सुसज्जित हो कर उस रूप में आया जिसे सर्वश्री वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री ने प्रस्तुत किया।"

हिन्दी-गद्यकाव्य के विकास में "उद्भ्रान्त प्रेम" का भी काफी महत्वपूर्ण योग रहा है। इसमें हिन्दी-गद्यकाव्य को "कादम्बरी" की क्लिष्ट एवं बोझिल शैली से बचाकर उसे सरल रूप प्रदान किया। "गीतांजली" ने रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता का समावेश किया।

भारतेन्दु को हिन्दी-गद्यकाव्य का प्रथम लेखक माना जाता है; यद्यपि उनसे भी पहले लल्लू जी लाल के "प्रेमसागर" में इसके बीज मिल जाते हैं। भारतेन्दु के उपरान्त गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह की रचनाओं में गद्यकाव्य शैली के दर्शन होते हैं। बालकृष्ण जैसे विचारप्रधान गद्य-लेखकों की रचनाओं में भी यत्र तत्र आलंकारित शैली की गद्य-रचना मिल जाती है।

सन् 1915 से लेकर 1930 तक हिन्दी-गद्यकाव्य के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। इसी वर्ष रायकृष्णदास की "साधना" प्रकाशित हुई थी जिसने साहित्य की इस विधा को एक नये मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था। इस ग्रन्थ में "रहस्यवादी लाक्षणिक अभिव्यक्ति एवं शैलीगत सारल्य" के सर्वप्रथम दर्शन हुये।

सन् 1925 से लेकर 1930 तक हिन्दी में अनेक गद्यकाव्य-संग्रहों का प्रकाशन हुआ जिनमें भक्ति सेवा-प्रेम राष्ट्रीयता आदि भावनाओं को प्रमुख स्थान मिला तथा शैलीयां पूर्ववर्ती ही अपनाई गयीं। इनमें वियोगी हरि का "अन्तर्नाद" हृदयनाथ पाण्डेय के "मनोव्यथा", "मदोन्मत्त", "देवदूत" विद्यार्थी का "कुमार हृदय का उच्छ्वास"; 1928 में वृन्दावनलाल वर्मा की "प्रेम की हिलोर" तथा जगदीश चन्द झा की "तरंगिणी" प्रकाश में आई। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ गद्यकाव्य प्रकाशित हुये परन्तु अब यह विधा धीरे-धीरे समाप्त सी हो रही है।

— 0 —

भारतीय लोकगीतों की परम्परा

ले०— ज्ञानचन्द्र शास्त्री

एम० ए०, प्रवक्ता—हिंदी-विभाग ।

संसार में मानव के आविर्भाव से लोकगीतों का उद्भव माना जाता है। यद्यपि लोकगीतों के जन्म का कोई काल-क्रम नहीं है, परन्तु ये मौलिक परम्परा से अलग प्रवाह के रूप में अनवरत असीम अतीत के गर्भ में छिपे उद्गम स्रोत की ओर संकेत करते हैं। लोकगीतों की अनन्त प्रवाहमयी परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में एक विद्वान ने लिखा है—"जब से पृथ्वी पर मनुष्य है, तब से गीत भी हैं। जब तक मनुष्य रहेंगे, तब तक गीत भी रहेंगे। मनुष्यों की तरह गीतों का भी जीवन मरण साथ चलता रहता है। कितने ही गीत तो सदा के लिए ही मुक्त हो गये, कितने ही गीतों ने देशकाल के अनुसार भाषा का बाना ही बदल डाला, पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा। बहुत से गीतों की आयु हजारों वर्ष की होगी। ये थोड़े फेर-फार के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।"

लोकगीतों की विकास-परम्परा भारतवर्ष में बहुत पुरानी है। लोक गीतों का प्रथम पग-चिह्न वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाहादि उत्सवों पर सरस गीत गाए जाने का उल्लेख उनमें मिलता है। इन गीतों के लिए वेद में "गाथा" शब्द का प्रयुक्त हुआ है तथा गीत गाने वाले के अर्थ में "गाथिन" शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] विवाहादि अवसरों पर गाए जाने वाले गीत "रैमी" "गाथा" नामों से अभिहित किये जाते थे परन्तु "गाथा" शब्द विशिष्ट अर्थ का सूचक है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी गाथाओं का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋक् और गाथा का अन्तर दिया है जो इस प्रकार है—ऋक् दैवी होती थी और गाथा मानुषी। गाथाओं का प्रयोग मन्त्र के रूप में नहीं किया जाता था और वे ऋक् यजु तथा साम से अलग होती थीं। प्राचीन काल में किसी राजा के उदात्त एवं महान् चरित्र को

---

1. पं० रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी—ग्राम गीत : पृ०-78
2. "इन्द्रमिद् गाथिनो वृहर्दिर्कभिरर्किणः"—ऋग्वेद, 8/71/14

लक्षित करके जो गीत समाज में प्रचलित हो जाते थे और जन-समूह द्वारा गाये जाते थे और वे गाथा कहलाते थे।

वैदिक गाथाओं के उदाहरण शतपथ ब्राह्मण[1] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[2] में उपलब्ध होते हैं। इनमें अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं के चरित्र का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन गाथाओं को कहीं "श्लोक" कहीं "यज्ञगाथा" और कहीं केवल "गाथा" कहा गया है।[3]

एतिहासिक गाथाओं की यह परम्परा महाभारत काल में भी पूर्ण रूप से प्रचलित थी। दुष्यन्त-पुत्र भरत के सम्बन्ध में अनेक गाथाएं महाभारत काल में उपलब्ध होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित गाथाएं श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्राप्त होती हैं। गाथाओं का गायन विशेष रूप से राजसूय यज्ञ के अवसर पर ही होता था।

इस प्रकार लोकगीतों के विकास की परम्परा में हम देखते हैं कि लोकगीत का सर्वप्रथम ऐतिहासिक रूप गाथा ही था। वैदिक काल में गाथाओं के मुख्य दो रूप लक्षित हुए—

1. ऐतिहासिक-राजसूय यज्ञादि के अवसर पर गाई जाने वाली गाथाएं।

2. देव विषयक-विभिन्न संस्कारों के अवसर पर मंगल हेतु गाई जाने वाली गाथाएं।

पाली भाषा के जातकों में उपर्युक्त धारणा की सम्पुष्टि हो जाती है। पाली भाषा में प्रयुक्त गाथाएं अत्यन्त प्राचीन हैं जिनमें तत्कालीन लौकिक कहानियों एवं घटनाओं का सार रूप में उल्लेख किया गया है। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कथाएं जो जातक कहलाती हैं गाथाओं के माध्यम से ही व्यक्त हुई हैं। पाली के प्रसिद्ध सिंहचर्म जातक हैं सिंह की खाल पहन कर खेतों में धान-जौ खाने वाले गधे की कथा है। किसान के रूप में उपस्थित बोधिसत्त्व (गौतम बुद्ध) गधे की आवाज पहचान कर इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए प्रथम गाथा कहते हैं। यहीं पर द्वितीय गाथा गधे के स्वामी, एक बनियां के द्वारा कही गई है।[1] प्राकृत काल में "लोकगीतों" का विकास

---

1. शतपथ ब्राह्मण : कांड 13, अध्याय 1, ब्राह्मण 5

2. ऐतरेय ब्राह्मण 8/4

3. तादेशाऽभि यज्ञगाथा गीयते। तां गाथा दर्शयति। तत्र प्रथमं श्लोकमाह—ऐतरेय ब्राह्मण 39-7

परिलक्षित होता है। हाल की "गाथा सप्तशती" में संग्रहीत सात सौ गाथाएं उसका प्रमाण हैं। एक गाथा में विरहिणी नायिका की मन:स्थिति का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया गया है। जब वह प्रियतम के परदेश जाने के पश्चात् दिवस गणना के लिए आतुर होकर प्रथम दिवस के अर्द्ध भाग में ही "आज गया है" "आज गया है" सोच-सोचकर पूरी दीवार को लकीरों से भर देती है।[2]

वैदिक युग के बाद महाकाव्य एवं पौराणिक युग में भी लोकगीतों की विकास-परम्परा दिखाई देती है। बाल्मीकिरामायण में राम-जन्म के शुभ अवसर पर गन्धार्वों द्वारा गायन एवं अप्सराओं द्वारा नृत्य करने का बालकाण्ड में उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास ने अज के जन्मोत्सव के अवसर पर राजा दलीप के राजमहल में वेश्याओं द्वारा नृत्य एवं गायन-वाद्य प्रस्तुत करने का वर्णन किया है। संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री "विज्जिका" ने धान कूटने वाली स्त्रियों के द्वारा गाए जाने वाले गीत का अत्यन्त मनोहर एवं सरस रूप में वर्णन किया है। स्त्रियां धान कूट रहीं हैं साथ ही गीत भी गाती जा रही हैं। मूसल उठाने एवं गिराने के साथ उनकी चूड़ियों से झंकार से निकल रही है। गीतों के स्वर चूड़ियों की झंकार से मिलकर आनन्द की सृष्टि कर रहे हैं।[4]

---

1. क. नेत सीहस्स नदितं न व्याधरस न दीपितो।
पारुतो सीहचम्मैन जम्मो नद ति गदमोति ॥
—पालिजातकावली, पृ०-17

ख. चिरं पि खो तं खोदय्य गदमो हरितं यवं।
पारुतो सहिचम्मैन समानो च दूसमीति ॥ वही, पृ०—17

2. अज्जं गओत्ति, अज्जं गओत्ति, अज्जं गओत्ति मणिरीए।
पढमच्चिय दिरुहछे कुड्डो रेहांहि चितलिओ ॥
—गाथा सप्तशती, 33/8

3. सुख श्रवा मंगल सूर्य निस्विना: प्रमोद नृत्यै: सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधोपते: पथि व्यजम्भन्त दियोकसामयि ॥
—रघुवंश, 3/119

4. विलासमसृणोल्लसम्मुसत लोलदो: कन्दली -
परस्पर परिस्खतद्वलमानि: स्वनोद् वन्धरा:।
लसन्ति कलहुंकृति प्रसभकम्पितोर: स्थला,
त्रुटुगमक संबुता कलभगण्डली गीत्तम: ॥
(हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 16,)
पृ० 20 से उद्धृत

इसी प्रकार महाकवि हर्ष ने चक्की चलाती हुई स्त्रियों का उल्लेख किया है। स्त्रियां सत्तू पीस रही हैं जिसकी सुगन्ध पथिकों को आकृष्ट कर लेती हैं।[1] चक्की चलाती स्त्रियां गीत गाती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में अनेक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा मंगल गान गाए जाने का उल्लेख किया है। राम-जन्म, सीता का गौरी-पूजन, सीता-स्वयंवर, सीता-राम-विवाह इत्यादि समस्त अवसरों पर स्त्रियां मधुर गीतों का गायन करती हैं। तुलसीदास जी ने लोक गीतों की व्यापक महत्ता का प्रदर्शन किया है। उनके काव्य में कोई भी पावन-क्षण गीतों की सुधा-धारा से आप्लावित हुए बिना नहीं रहता है। राम-विवाह के अवसर पर बारात को भोजन कराते हुए स्त्रियों द्वारा जेवनार तथा गाली गाने का उल्लेख भी उन्होंने किया है।– गाली गाने की प्रथा हिन्दू समाज हैं अभी तक चली आ रही है, एक नवविवाहिता अपने पति से कहती है—

"घुन्डी खोई गई रोनादार हमारे बाजूबन्द की।
घर ही घर में खोई गई घुन्डी, अब का बलम हम पै धरी है हुन्डी ॥
दौरानी, जठानी मेरी दोऊ हैं गुन्डी ॥
ले गई साफ चुराय, सलाह कुछ छोटी ननद की।"

तुलसीदास जी ने अपने काव्य में लोकरीतियों का वास्तविक चित्रण उपस्थित किया है। लोक-रीतियों के सम्यक् निरूपण के समय लोकगीतों को अत्यधिक महत्त्व देना स्वाभाविक ही था। "जानकी मंगल" एवं "पार्वती मंगल" में समस्त वैवाहिक रीतियों एवं विधियों सहित क्रमशः राम-सीता एवं शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। इसमें रीति के अनुकूल गीत गाए जाने का सर्वत्र उल्लेख प्राप्त होता है। राजस्थान में "ढोला मारूरा दूहा" एक लोकगीतात्मक काव्य है। जगनिक का आल्ह खण्ड भी गीतों की प्रवृत्तियों का प्रतीक है। अपने मौलिक रूप में वह जैसा भी रहा हो, लोककण्ठ से प्रवाहित होकर लोकगीत की परम्परा में आ गया है।

---

1. प्रतिहट्टपथे घरट्टजाता पथिकाह्वानद-सक्तु सौरभैः।
कलहान्न घनान् यदुत्थितात् अधुनाप्युज्झति घर्घर स्वनः ॥
—नैषधचरित सर्ग 2/85

2. जेंवत देहि मधुर धुनि गारी।
लै लै नाम पुरुष अरु नारी ॥—बालकाण्ड
नैन विशाल नउनियां भौं चमकावइ हो।
देह गारी रनिवासहि प्रमुदित गावई हो ॥—रामललानहछु।

आधुनिक काव्य की चेतना में, प्रचलित लोकगीत परम्परा की छाप पन्त जी के "ग्राम्या" शीर्षक में स्वतः अंकित हो उठी है। लोक जीवन के प्रति मानव-मन की आस्था के परिणाम स्वरूप अनेक अन्तर्भूत तथ्यों का उद्घाटन हो रहा है यथा—

मांगतु मांगतु मान घटे,
अरु प्रीति घटे नित के घर जाए।
ओछे के संगते बुद्धि घटे,
औरु क्रोध घटे मन के समझाए।।

—0—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजयाधनेन
शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः।।

ऋ० 10-18-2 ।।

अर्थ :—हे मनुष्यो! तुम मृत्यु के पैर उखाड़ते हुए आगे बढ़ोगे तभी दीर्घायु प्राप्त करोगे। अर्थात् निडर होकर कार्य करोगे, यश मिलेगा और यश कभी क्षीण नहीं होता। तभी प्रजा और धन से भरपूर रहोगे। किन्तु इसके लिए तुम शुद्ध, पवित्र और यज्ञमय जीवन बिताओ।

सत्यं-शिवं-सुन्दरम्

ले०—सम्भावहादुर सिंह
छात्र एम०ए० । द्वितीय वर्ष । हिंदी

'सत्य,-शिवं-सुन्दरम' हिन्दी साहित्य के लिए एक सूत्र है। यहां की प्राचीन शास्त्रीय प्रणाली यह रही है कि पहले किसी सूत्र का निर्माण कर लिया जाता है, पुन: उसकी व्याख्या की जाती है। यह सत्यं-शिवं–सुन्दरम् भी हिन्दी साहित्य के लिए ऐसा ही सूत्र है जिसका प्रचार आजकल अधिक हो रहा है। यह सूत्र आज आदर्श और उद्देश्य के रूप में व्यवहृत हो रहा है। बंकिमचन्द्र के "वन्देमातरम" के समान इसकी व्यापकता तथा लोकप्रियता बराबर बढ़ती जा रही है। इसकी व्यापकता जब इतनी अधिक है तो हमें इसके प्रारम्भिक इतिहास को भी जानना चाहिए।

मूल स्रोत

कुछ विद्वानों का विचार है कि यह 'सत्यं–शिवं–सुन्दरम्' यूनानी दार्शनिक अरस्तू के (The Truth, The Good The Beautiful) का हिन्दी अनुवाद है, किन्तु यह बात पूर्णतः सत्य प्रतीत नहीं होती। भारत वर्ष के लिए इन तीनों शब्दों में कोई भी नवीन नहीं है। भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, मूलतः इन्हीं पर आधारित हैं। जैसे—सच्चिदानन्द'। इसमें सत्य का आन्नद रूप प्रस्तुत है। 'हित' मनोहारि च दुर्लभ च' में शिवं और सुन्दरम का रूप मिल जाता है। भारतीय संस्कृति में अधिकांशतः तीन संख्या को अधिक महत्व दिया जाता है जैसे-धर्म के क्षेत्र में–ब्रह्मा, विष्णु, महेश। दर्शन के क्षेत्र में सत्, चित, आन्नद। सृष्टि के तीन मूल तत्व-आदि, मध्य, अन्त। ब्रहम के तीन रूप- अव्यक्त (व्यक्त से पहले), व्यक्त और पुनः अवयक्त (प्रलय के पश्चात) का अस्तित्व है। अतः सत्यं-शिवं-सुन्दरम भी इसी प्रकार साहित्य का एक सूत्र रूप है। इस सत्यं-शिवं-सुन्दरम् को यदि और संक्षिप्त किया जाय तो शिव में समाहित हो जाता है क्योंकि कर्तव्यपथ में सत्य शिव बन जाता है और शिव कल्याणकारी होने से सुन्दर होता है अतः इनका एक दूसरे से अनभ्य संबंध है। "पंत" जी की पंक्तियों में इनका स्वरूप देखें-

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,

लोचनों में लावण्य अनूप
लोक-सेवा में शिव अविकार।

सत्य का स्वरूप

'सत्य' का स्वरूप दर्शन में उस आन्नद स्वरूप सत्ता से है जो अव्यक्त है और जिससे जीव पृथक् होकर अनेक सांसारिक यातनाओं में पड़कर दुख भोगता है और पुनः लौटकर उसी अव्यक्त सत्ता मे अपने को विलीन कर देता है। यह संसार असत्य है, स्वप्नवत् है किन्तु यह तभी होता है जब जीव इन सांसारिक व्यापारों के सामने अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है। मुक्त हृदय हो जाता है। आत्मा की यह मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। रस-दशा में आने पर मनुष्य अपने संकुचित विचारों को छोड़कर भावलोक में चला जाता है। इस स्थिति में पहुंचने पर मनुष्य कुछ समय के लिए अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन कर देता है। ऐसी अवस्था में वह जगत को उसी ब्रह्म से उत्पन्न, उसी का एक अंश अनुभव करता है। जगत् के साथ उस ब्रह्म का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। यही "सत्य" का स्वरूप है।

काव्य में कवि अपनी कल्पना और अनुभूति के आधार पर सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। वह यर्थाथ अथवा बीते हुए के अतिरिक्त सम्भावय–सत्य का चित्रण करता है। उसकी यह कल्पना अनुभूतिजन्य होती है, अतः वह कल्पना ही नहीं वरन् शाश्वत सत्य पर आधारित होती है। काव्य में प्रकृत–सत्य की अपेक्षा सम्भाव्य–सत्य ही काव्य में आदर्श की प्रतिष्ठा करता है।

'शिव' का स्वरूप

मनुष्य अपनी सत्ता से भाव-सत्ता में विचरण करने लगता है और ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने पर वह लोकमंगल की कामना करता है। वह अपनी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा, हास-विलास में जगत् के आनन्द का अनुभव करता है। यही उसका कर्तव्य है। इसी कर्तव्य-पथ में विश्वात्मा में जो लोकमंगल का तत्व है वही 'शिव' है अर्थात् लोकमंगल ही शिव है।

भारतीय शास्त्र में 'शिवजी' के इस 'शिव' की सम्पूर्ण विशेषता व्यापत है। 'शिवजी' के नरमुण्ड-माल, सर्प, विष आदि अमंगल हैं किन्तु इन सबसे ऊपर अमृतमय चन्द्रमा और समस्त कलुषों को धो देने वाली पावन पवित्र गंगा विराजमान हैं। अतः 'शिवजी' का वह कुरूप अमंगलकारी भूली भटकी आत्माओं को तो धारण करता ही है साथ ही सबसे सुन्दर अमृतमय चन्द्रमा और कलुष-निकन्दिनि पावन गंगा को सबसे

उच्च स्थान दिया है। "शिवजी" का यही प्रभुत्व अमंगल को भी मंगलमय बना देता है। यही शिवत्व है। इसीलिए इतना भयंकर वेषधारी शिव ही "शिव" है।

जैसे रामचन्द्र जी जग–पीड़क रावण पर आघात करते हैं। उसके वंश का नाश कर देते हैं, उसे मार डालते हैं, किंतु यह सब अशोभनीय कार्य वे केवल परजनहित की भावना से कहते हैं। अत: राम शिवकारी थे।

तुलसी ने भी इसी का वर्णन किया है :-

"जब जब होय धरम की हानी।
बाढ़हि अधम असुर अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा।
हरिहं कृपानिधि सज्जन पीरा"॥

काव्य में इसी प्रकार कुरुपता को सौन्दर्य में अमंगल को मंगल में चित्रित करना ही शिव कहा जा सकता है।

'सुन्दरम्' का स्वरूप

प्रज्ञा का सत्य स्वरूप जब हृदय में स्थान पाता है तो प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है और नेत्रों में जाकर लावण्य बन जाता है। इस अनूपलावण्य रूप को ही सौन्दर्य कहते हैं।

'कीटस' के शब्दों में-'Beauty is truth Truth is beauty' कहा गया है।

शुक्ल जी ने- "हमारी अन्त:सत्ता की यही उदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।" कहा है।

अत: सौन्दर्य की परिभाषा यह हुयी कि जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य को पूरा करे, वही सुन्दर है। सौन्दर्य को विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह एक वस्तु है और उसके अनुभवकर्ता अनेक मनुष्य हैं। सभी अपने-अपने अनुसार उसका अनुभव करते हैं किंतु उसकी महिमा घट नहीं सकती। जैसे -

सीतलातारु सुगन्धि की घटी न महिमा मूर,

पीनस वारो ज्यों तजै सोरा जानि कपूर ।

वास्तविक सौन्दर्य वह है जो एक सा रहे और दर्शकों के लिए उसमें नित्य नवीनता मिले । बिहारी ने अपनी नायिका का ऐसा ही रूप चित्रित किया है जिसमें सदैव नवीनता दिखायी पड़ती है, यथा -

लिखन बैठी जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के, गतुर चितेरे कूरं ।।

आन्नद की अनुभूति हम दो अवस्थाओं में करते हैं । साधनावस्था 2. सिद्धावस्था ।

साधनावस्था में अमंगल और अन्धकार में पड़े हुए जीवों के प्रति सहाभूति होती है । वे अन्धकार पर विजय पाने के लिए प्रकाश की खोज करते हैं । यह खोज उपासना कहलाती है उपासना में ज्ञान कर्म, भक्ति द्वारा हम अभीष्ट की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं और प्राप्ति में सुख का अनुभव करते हैं, जो सुन्दर होता है ।

सिद्धावस्था साधना द्वारा अमंगल तथा अशिव रूपों को पूर्णतया नष्ट करके मंगलमय रूप की प्राप्ति को कहते हैं । इसमें पूर्ण सौन्द्रय की अनुभूति होती है । इस प्रकार सिद्धावस्था पूर्ण मंगलमय सौन्द्रय की प्राप्ति है ।

जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन, वस्त्र आदि की आवश्कता है उसी प्रकार सूक्ष्म भावनाओं के भण्डार हृदय को गतिमान और स्वस्थ रखने के लिए सुन्दर कल्पना की आवश्यकता होती है । भक्ति जिस प्रकार बुद्धि और शरीर द्वारा अपने उद्देश्य की प्राप्ति करती है उसी प्रकार भावनाओं द्वारा वह सुन्दर सत्य का निर्माण करती है । कवि अव्यक्त ब्रहम को स्वयं के आन्नद के लिए "एकोह बहुस्याम्" का विचार करता है । सत्य का सुन्दर रूप गोस्वामी तुलसी दास ने निम्न प्रकार से व्यक्त कियां है ।

कहा कहौं छबि आजु की, भले बने हो नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुषबाण लेउ हाथ ।।

काव्य रचना एक प्रकार की कला है और यह कला ही मानव को उस उच्च भाव भूमि पर ले जाती है जहां वह अपनी पृथक सत्ता को भूलकर मनुष्यता के

सर्वोच्च भाव लोक में जा पहुंचता है और अपना पराया भूल जाता है। यह 'सर्व-सुखाय' होती है। कला का अन्तिम लक्ष भी आनन्द है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में सत्यं-शिवं-सुन्दरम तीनों तत्वों का सन्तुलित समन्वय ही उसे पूर्णता प्रदान करता है। एकाकी रूप में ये तीनों तत्व अपूर्ण रहते हैं। अतः यह तीनों तत्व भिन्न न होकर एक ही मूल तत्व के भिन्न भिन्न रूप हैं।

—0—

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिद्रुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम ॥

ऋ० 1-23-22

अर्थ :- जल देवता हमारे शारीरिक मल को दूर करें औरजो कुछ मेरे भीतर तमोगुणी भाव उत्पन्न हों अर्थात मैं कोई पापकर्म करूं, उन्हें भी दूर करें। यदि मैं किसी से द्रोह अथवा क्रोध करूं या असत्य व्यवहार करूं, यह सब जल देवता दूर करें, सारांश यह है कि जैसे जल मानव शरीर के मल को दूर करता है उसी प्रकार आप्त पुरुषों का सत्संग हमारी आन्तरिक मलिनता को दूर करता है। अतएव सत्संङ्ग करना परम धर्म है। ठीक ही कहा गया है।

राष्ट्रीय एकता

ले०—महेन्द्र प्रसाद थ्यानी,
छात्र—विद्यालंकार, द्वि० वर्ष

देवों एवं ऋषि मुनियों की जन्म-स्थली भारत, जो स्वयं में एक विश्व है। काश्मीर से कन्याकुमारी एवं पूर्व में असम से, पश्चिम में शान्ति, अहिंसा व एकता के प्रतीक बापू की जन्मस्थली गुजरात तक फैला हुआ यह देश सदियों से एकता व अखण्डता की सीख संपूर्ण विश्व को देता आया है।

इस देश की संस्कृति, एकता व अखण्डता की ज्योति से विश्व को जगमगाती है। विदेशी इतिहासकार विद्वान भी एक सम्मत रूप से स्वीकार करते हैं, कि भारतीय संस्कृति में समन्वय, त्याग व सहिष्णता का जितना भण्डार हैं उतना विश्व को किसी अन्य देश की संस्कृति में नहीं। सातवीं शताब्दी से इस देश पर आक्रमणों की बौछार शुरु हुई और आक्रमणकारियों ने अपनी संस्कृति की छाप भारत पर डालने का आसीम प्रयत्न किया किंतु बाहरी पुण्य भूमि की संस्कृति, जिसने बाह्य संस्कृतियों को अपने अंक में लेकर मां का असीम प्यार दिया, अपना दूध पिलाकर आंचल में इस तरह ढक लिया जैसे मां अपने बच्चे को अन्य की नजरों से बचाने हेतु अंक में समा लेती है एवं तब केवल मां का ही अस्तित्व दिखाई देता है।

आज विश्व बन्धुत्व का प्रथम उपासक एवं उपदेशक स्वयं बीमार क्यों? अखण्डता के प्रतीक इस शरीर में पारस्परिक द्वेष का मलेरियां कहां से आया? जिससे इस शरीर के अंग-अंग में दर्द एवं टूटन महसूस हो रही है। ये ज्वलन्त प्रश्न हैं। अभी असम की दर्द भरी कराह भारतीय जनता के हृदयपटल पर धुंधली परछाई के रूप में विद्यमान है एवं इधर पंजाब में अलगाव की विषैली भावना उमड़ पड़ी।

उफन पड़ा क्यों भाव द्वेष का?
हुई कान्ति कम क्यों लालिमा की?
ढला सूर्य क्यों स्नेहमंच से?
हुई रैन भर औ कालिमा की॥

कहीं एकता रूपी सूर्य के ढलने पर काली अंधियारी दिशा इस राष्ट्र को न घेर लें अतः सभी जवानों, वयवृद्धों को एकता का दीप जलाना है। विश्वबन्धुत्व का उपदेशक बीमार क्यों? क्योंकि इसके शरीर के अंग आपस में टकराने लगे।। एक बार शरीर के अंग, चेहरा, हाथ और पैर इस बात पर लड़ने लगे कि किसका कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। हाथ ने कहा कि मैं मनुष्य को खाना देता हूं एवं साधन जुटाता हूं। पैरों ने कहा हम शरीर का बोझ ढोते हैं एवं उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हैं। चेहरे ने कहा मुंह, आंख, नाक, कान सब मनुष्य को मैं देता हूं अतः मैं महत्वपूर्ण हूं। पेट की बात पर तीनों हंसते हुए अंग बोले- तुम सब आलसी, केवल हमारे द्वारा जुटाया हुआ भोजन करते हैं, अतः अब हम तुम्हें भोजन नहीं देगें। शरीर को भोजन न मिलने के कारण कमजोरी में धीरे-धीरे उस मनुष्य को मरणासन्न स्थिति में पहुंचा दिया, तब शरीर के अंगों को पेट की आवश्यकता पर विश्वास हुआ एवं उनको यह समझ में आ गया कि शरीर के किसी भी अंग की अनुपस्थिति में शरीर को कठिनाईयों क। सामना करना पड़ता है। आज भारत के अंग (विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय) आपस में लड़ रहे हैं। इसी कारण यह नाजुक स्थिति पैदा हो रही है।

आज पंजाब में कुछ सिख भाई खालिस्तान की मांग कर रहे हैं वे खुद मनन करें, सत्तर करोड़ की जनता वाले इस देश में खाली-स्थान कहां बचा हैं? यदि वे खाली-स्थान चाहते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे निर्माणात्मक कार्यों में रुची लें, परिवार नियोजन अपनाएं। बीस-सूत्रीय कार्यक्रम को सही तरह क्रियान्वित करें। सरकार को सहयोग दें। यदि ये सिख भाई खालिस्तान का अर्थ सिखों का देश मानते हैं तो इसमें दो राय नहीं कि वे गलत हैं क्योंकि भारत ही सिखों का देश है। इस देश की रक्षा में सिख वीरों ने जितनी वीरता, शौर्य देशप्रेम का प्रदर्शन किया है एवं करते हैं, उनसे उपर्युक्त तथ्य सत्य प्रतीत होता है।

अब भाषा का ही उदाहरण लीजिए, उत्तर प्रदेश में उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाये जाने के लिए राजनीतिज्ञों ने जो हथकण्डे अपनाये, क्या वे वैतिक हैं? हम इस देश में हिन्दु-मुस्लिम सब मिलकर रहते हैं। हमें उर्दू इतनी ही प्यारी है जितनी अन्य भाषायें किन्तु राजनीतिज्ञों ने वोट पाने के लिए संस्कृत और उर्दू को लड़ा दिया जिससे एकता में दरार उत्पन्न हो गई। इन्हें सोचना चाहिए था कि यदि उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाने से एकता में दरार पड़ेगी तो इन्हे संस्कृत को द्वितीय राजभाषा बना कर उर्दू को तृतीय राजभाषा घोषित करना चाहिए था। इससे उर्दू को सर्वसम्मत महत्व भी मिलता और अखण्डता भी बरकरार रहती, किंतु इन्हें तो अपनी कुर्सी और महत्ता बनानी है, चाहे उन्हें साम्प्रदायिक दंगे भड़काने पड़ें अथवा भाषावाद।

असम की हालत भी कम बुरी नहीं हुई। वहां पर जो गलतियां हुई हैं वे ऊपर दिये गये "शरीर के अंगों का टकराव" के लगभग समान ही हुई। असम आन्दोलनकारियों ने मसला विदेशी लोगों को निष्कासित करने का उठाया और कष्ट दिया स्वदेशी भाईयों को। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि हमारा देश ऐसे महात्माओं, विद्वानों को जन्म देता है जिनमें एक महापुरुष विश्व की दो सौ भाषाओं का ज्ञान रखता है। जिनमें से कुछ भाषाओं का ज्ञान वे व्याकरण सम्मत एवं लिपीबद्ध कर प्रकाशित भी कर चुके हैं। विश्वबन्धुत्व की भावना प्रदर्शित करने वाले इक्ष्वाकुवंशी राम व सीता इसी देश में हुए तथा गीता के उपदेशक श्रीकृष्ण ने इसी पुण्य भूमि में जन्म लिया। यथा—

"इसी माटी में जन्म लिया था दशरथनन्दन राम ने।
गीता का उपदेश दिया था यदुकुल भूषण श्याम ने॥
इस धरती में सामवेद मन्त्रों का भी मधु गान है।
मुझको अपनी भारत की माटी से अनुपम प्यार है।

महाराणा प्रताप, शिवाजी, सवालाख से एक लड़ाने वाले गुरु गोविन्दसिंह इसी देश के लाल हैं।

अब प्रश्न उठता है अलगाववादिता के लिए दोषी कौन हैं? मेरे विचार से इसके दोषी जनसाधारण से लेकर महान पद पर आसीन सभी व्यक्ति हैं। एक दूसरे को समझने में बार बार गल्तियां की जा रही हैं। महात्मा एवं उपदेशक अपनी धार्मिक गद्दी को गुदगुदी करने के चक्कर में हैं दूसरी और साम्प्रदायिक द्वेषभावना इसका कारण हैं।

भ्रष्ट राजनीति इस अलगाववाद की जड़ है। आज भारत का राजनीतिज्ञ 'राजनीति' शब्द से 'रा' शब्द को पैरों तले रौंद सड़क के किनारे कूड़ेदान में, तम्बाकू के पान की पीक में, भाई-भतीजावाद की टोकरी में और किसी भवन के शिलान्यास करते समय नींव की ईंट में डाल देता है। सरकार आगामी चुनावों की तैयारी में लगी है और विपक्ष सरकार को सत्ता से हटाने के चक्कर में उन्हें जनता से कोई सरोकार नहीं। उन्हें तो केवल अपने अलग एवं स्वस्थ अस्तित्व की चिन्ता है।

अलगाववादी है कौन? देश की अखण्डता में दरार डालने वाले कोई वीर साहसी अथवा विद्वान् नहीं अपितु राजनीति एवं समाज में इच्छित स्थान पाने में असफल व्यक्ति हैं। मैं मनोविज्ञान का विद्यार्थी हूं इसलिए मेरा विश्वास है कि नैराश्य

एवं बार-बार मिली असफलताओं के कारण अथवा तुच्छ स्वार्थ के लिए ही देशद्रोह किया जाता है। देशद्रोह अथवा एकता कमजोर करने का प्रयास बिना विदेशी सहायता के नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारी अखण्डता में दरार डालने के लिए विदेशों से शह मिल रही है।

भाइयो, चिन्तन करो, इस भूमि की एकता के लिए वीरों ने अपनी बलि किस तरह हंसते-हंसते अपने परिवार को मझदार में छोड़कर दी। आज सरदार भगतसिंह, आजाद, नेताजी, गांधी जी का भारत मात्र कुछ गलतियों के कारण अलगाववादित से जूझ रहा है। यह ठीक ही है—

"अगर हममें से अब भी एक भगत, आजाद, बन जाये।
सुभाष, गांधी व विस्मिल का ये भारत फिर से बन जाये॥"

यदि आपको खून की नदियां बहाने में आनन्द आ रहा है तो उचित जगह पर बहाइए। आप बुरा न माने मैं एक बात पूछता हूँ, यदि कोई आपके सामने आपकी मां का आंचल छीन ले या फाड़कर फेंक दे तो आपको कैसा लगेगा? अब भी भारत मां के आंचल का कुछ भाग शत्रुओं ने खींचा हुआ है। आप वहां खून की नदियां बहाएं, तो मैं आपको वीर समझूंगा। अपने घर मे तो कुत्ता भी शेर हो जाता है।

राजनितिज्ञ, 'राज' नीति' शब्द को साथ लेकर चलें। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए देश की एकता के लिए देश की एकता में अवरोध न बनें। अलगाववादी और सरकार एक दूसरे को सही समझने का प्रयत्न करें। आपस में सद्भाव और विश्वास बनाए रखें।

अनेकता में एकता इस भारतभूमि का गौरव है। कम्यूनिज्म वाले देशों की एकता तो स्वाभाविक है अतः उसमें आकर्षण नहीं होता है, किन्तु हमारे देश की एकता, विविधताओं, विभिन्न धर्म, भाषा एवं क्षेत्रीय बोलियों के होते हुए भी जो सद्भावना, प्रेम, माधुर्यपूर्ण एकता है, वह अस्वाभाविक होने के कारण अति आकर्षक है। 'आप दो मालायें लीजिये—एक समान आकार व मोतियों को एवं दूसरी असमान मोतियों को। उन्हें पहनकर देखिए। समान मोतियों की माला की सुन्दरता स्वाभाविक होने के कारण असमान मोतियों की माला सुन्दरता के सामने फीकी पड़ जायेगी। यदि इस माला से एक भी छोटा या बड़ा मोती निकाल दिया तो माला की सुन्दरला

में कमी आ जाती है। मेरा तात्पर्य यह है कि भारत ऐसी ही असमान मोतियों की माला है। इसकी एकता, अति आकर्षक है। यदि इसमें से एक भी मतावलम्बी अथवा वर्ग विशेष को अलग किया जाए तो आकर्षण में कमी आएगी।

अपनी प्राचीन मान्यताओं को न भूलें। शरणागत रक्षा, स्नेह, सौहार्द्र, देशप्रेम, विश्वबन्धुत्व की भावना, अहिंसा एवं अभयदान इत्यादि आत्मिक सिद्धान्त इस देश की परम्परा में हैं। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई सब समान है।

0 —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋ० 10–90–12॥

अर्थ :—इस प्रजापति का ब्राह्मणत्व विशिष्ट पुरुष मुख से उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय वर्ग वाला पुरुष क्षत्रिय बाहु से उत्पन्न हुआ इस प्रजापति का उरू (जंघा) के समान कार्यशील वैश्य जाति का पुरुष उत्पन्न हुआ। दोनों पैरों से शूद्र जाति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ।

सारांश यह कि सभी वर्ण उस परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं अतः सभी समान हैं। यह मन्त्र समाज चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सुन्दर प्रतीक है।

राष्ट्रीय एकता

ले०—भोपाल सिंह त्यागी,
छात्र—विद्यालंकार। द्वितीय वर्ष।

क्षेत्रफल, जनसंख्या भाषा तथा वेश-भूषा आदि की दृष्टि से भारत एक उपमहाद्वीप कहा जाता है। यहां के विभिन्न राज्यों के निवासी बाह्य दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न ज्ञात होते हैं। भाषाओं की दृष्टि से तो संसार के किसी अन्य देश में इतनी भाषायें नहीं बोली जाती। इतनी विभिन्नता के होने पर भी यहां एक ऐसी एकता पाई जाती है जो सारे देश को एकसूत्र में बांधे हुए है तथा जिसके कारण इतने बड़े भूभाग को एक भारत देश, इतनी बड़ी जनसंख्या को भारत-निवासी तथा इतनी भाषाओं को भारतीय भाषाओं के नाम से पुकारा जाता है। यह एकता हमारी राष्ट्रीय एकता है।

इतनी विभिन्नताओं में भी एकता के कारणों पर जब हम विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इस एकता का कारण साथ-साथ मिलकर चलने की भावना, आदर्श, त्यौहार-प्रियता, दार्शनिकता, साहित्य, नाच-गान आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जिन्होंने देश को एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बांध रखा है।

हमारे राष्ट्र में समन्वय की भावना सभी नागरिकों में ओतप्रोत है। समन्वय का अर्थ है कुछ स्वयं झुकना और दूसरे को झुकने के लिए विवश करना और इस प्रकार बीच के मार्ग का सृजन करना। भारत के साहित्य, धर्म, दर्शन, वस्तुकला आदि सभी क्षेत्रों में इसी भावना के दर्शन होते हैं। भारत के सभी साहित्यों की मूल-प्रवृत्ति जीवन के सुख-दुख: का समन्वय करके उन्हें इस प्रकार से प्रस्तुत करने की रही है कि वे मनुष्य के सामने एक शाश्वत सहचर बनकर आते हैं और उसे निरन्तर सुखद भविष्य की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में दक्षिण के आत्मवाद ने उत्तर की प्रकृति-पूजा से मिलकर भारत के सभी धर्मों को प्रभावित किया है। वास्तुकला के क्षेत्र में भी द्रविड़, आर्य तथा ईरानी वास्तुकलाओं का समन्वय आज भारत के सभी राज्यों में प्राप्त होता है और इस प्रकार समन्वय की भावना ने पारस्परिक सहयोग और एकता की भावना को बल प्रदान करके राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोया है।

यद्यपि भारत में हिन्दू, मुसलमान, जैन, फारसी, बौद्ध आदि अनेक धर्म है जो आपस में पर्याप्त भिन्नता रखते हैं, किन्तु सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा उदारता की भावना रखते हैं। यही कारण है कि हिन्दुओं के पुराणों में "बुद्ध" को भी एक अवतार के रूप में ग्रहण किया गया है। यदि एक धर्म वाला दूसरे धर्म वाले से कुछ आर्थिक सहायता धार्मिक कार्य के लिए चाहता है तो वह भी लगभग पूर्ण हो ही जाती है। इसी सहिष्णता तथा उदारता की भावना ने देश को एक सूत्र में बांधने में पर्याप्त योग दिया है।

धार्मिक प्रचार की भावना ने भी देश को एक सुत्र में बांधा है। बौद्ध धर्म के प्रचार ने देश के विभिन्न व्यक्तियों को एक दूसरे से मिलाया तथा समान विचार की भूमि पर बैठाकर एक सूत्र में बांधा। आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के प्रचार से ऊंच-नीच का भेद मिटाकर संसार को एक सूत्र में पिरोने का अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। शंकराचार्य ने भी सम्पूर्ण देश में भ्रमण करके अपने मत का प्रचार किया और देश के चारों कोनों में चारों मठों की स्थापना करके देश की एकता को बल दिया।

सम्पूर्ण देश में अनेक तीर्थ स्थान हैं। इन तीर्थस्थानों तथा प्रसिद्ध कुम्भ मेलों पर प्रत्येक प्रान्त के निवासी एक दूसरे से मिलकर देश की एकता को बल देते हैं।

इस देश के निवासी यथार्थ की अपेक्षा आदर्श से अधिक प्रेम करते हैं। प्रत्येक प्रांत, धर्म तथा सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने साहित्य, रीति-रिवाज आदि में असत्य पर सत्य की, दुष्टता पर सज्जनता की तथा कुरुपता पर सुन्दरता की विजय दिखाकर उनको ही अपनाते हैं। सभी लोग संयम, परोपकार तथा सर्वसमत्व को अपना आदर्श मानकर उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनके इस आदर्श प्रेम ने देश को एक सूत्र में बांधने में सहयोग दिया है।

यहां के महान् पुरुषों ने अपनी दृढ तपस्या, वलिदान, अटूट लगन से कार्य तत्परता से देश को आज एक सूत्र में बांधने का बहुत ही सफल एवं सराहनीय कार्य किया है। महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोष, लाल बहादुर शास्त्री आदि राजनैतिक नेताओं ने भी इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया है तथा यही प्रयत्न करते-करते अपने सीने को गोलियों की बौछार के सामने लाकर रख दिया। महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक पुरुषों ने इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। स्वामी श्रद्धानन्द ने देश की अखण्डता को निरन्तर कार्यान्वित करने के लिए वेदानुकूल शिक्षा

"गुरुकुल प्रणाली" का शुभारम्भ किया था जो आज भी देश के कोने-कोने में फैल रही हैं तथा देश की एकता को निरन्तर जारी रखने के लिए अनेक स्नातकों को प्रतिवर्ष गुरुकुलों से निकाल रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रकाशवीर शास्त्री, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं० सत्यकाम वेदालंकार आदि हैं। ये वीर आत्मायें अनेक जगह पर प्रचार एवं प्रसार का कार्यक्रम द्रुतगति से चलाकर देश को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाने मे महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। वैसे तो हमारे आधुनिक नेता एवं गणमान्य राजनैतिक दल भी इस ओर सक्रिय योगदान दे रहे हैं जैसे प्रधान मन्त्री श्रीमति इन्दिरा गांधी का बीस सूत्रीय कार्यक्रम का संचालन—परन्तु वह पूर्णरूप से सफल नहीं हो पा रहा है। चुंकि उसमें कुछ स्वार्थी प्रियता का भी सम्मिश्रण है। लोकनायक बिनोवा भावे ने ग्राम-ग्राम घुसकर गरीब वर्ग की करुण कहानी सुनकर उनके दारिद्रय को दूर कर भूदान यज्ञ का प्रारम्भ करके देश की अखण्डता पर पूर्ण बल दिया है।

इस देश के त्यौहारों ने भी देश को एक सूत्र में बांधने में पर्याप्त योग दिया है। यदि हम होली के दिन एक वायुयान में बैठकर भ्रमण करें तो हमें सर्वत्र रंग गुलाल का छिड़कना तथा ग्राम्य जीवन के गीतों का पंचम स्वर में गान ही प्राप्त होगा। इन त्यौहारों पर दूर-दूर के व्यक्ति एक दूसरे से मिलकर प्रेम की वृद्धि करते हैं। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय एकता में महत्त्वपूर्ण योग है।

यद्यपि यहां एक दर्शन से भी अधिक प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त प्रचलित हैं पर सभी दर्शन विभिन्न उपायों से आनन्द को प्राप्त करना ही अपना उद्देश्य मानते हैं। विचार के क्षेत्र में इस एकरूपता ने देश की एकात्मकता को सिद्ध करके उसे सर्वाधिक बल दिया है।

साहित्य ने भी देश को एक सूत्र में बांधने में योग दिया है। हिन्दू, मुसलमान दोनों ने ही सम्प्रदायवाद को संकुचित भावनाओ को छोड़कर हिन्दी, उर्दू में उत्कृष्ट कोटि की राम, रहीम पर कविता लिखी है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो "कौटिक हे कलधौत धाम करील के कुजंन ऊपर बारौ" कहकर "करील की कुजंन" के ऊपर सर्वस्व निछावर करने वाले रसखान के ऊपर अपने को बार दे। इसी प्रकार प्रान्त की संकुचित सीमाओं को लांघकर भी साहित्य की रचनाएं हुई हैं और उन्होंने देशवासियों को एक दूसरे के समीप लाने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

संगीत तथा नृत्य ने भी देश को एक सूत्र में बांधा है। हिन्दु तथा मुसलमान गायनाचार्यों ने दोनों के ईश्वरों को मुक्त कंठ से गुणगान किया है। नृत्य के द्वारा भी विभिन्न प्रान्तों की भावनायें समान रूप से व्यक्त हुई हैं। भागंड़ा, कत्थक आदि नृत्य इसके उदाहरण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी तत्वों ने देश को एक सूत्र में बांधा है और पर्याप्त विभिन्नताओं के होते हुये भी उसे एकराष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।

इतना सब कुछ होने पर भी स्वार्थ की भावनाओं, बदले की भावनाओं, प्रान्ततीयता, भाषावाद आदि-आदि कारण देश में समय-समय पर विघटन की प्रवृत्ति के दर्शन कराते हैं। जयचन्द ने पृथ्वीराज से बदला लेने के लिए ही देश को विदेशियों के हाथ में सौंप दिया था। आधुनिक काल में भी भाषावाद के कारण पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि राज्यों में अनेक पारस्परिक झगड़े होते रहते हैं। आज पंजाब के "अकाली खालिस्तान" की मांग केवल स्वार्थ के पीछे ही अंधे होकर कर रहें हैं। विदेशी कूटनीति भी देश को खंडित करने का समय-समय पर प्रयास करती रही है। आसाम तथा पंजाब आज स्वार्थ में या विदेशी कूटनीति में जल रहा है। उसकी आत्मा चीत्कार रही है, उन चीत्कारों को सुनने का हमारे पास समय तक नहीं है "द्रविड़ मुनेत्र कड़गम" नाम की संस्था का आंदोलन भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

यद्यपि विघटन की प्रवृत्ति हमें झकझोर डालती है और सांस्कृतिक एकता को संकट–सा प्रतीत होने लगता है पर देश की आत्मा बलपूर्वक अपनी एकरूपता को प्रकट कर देती है। वर्तमान समय में चीनी आक्रमण से पहले देश में अनेक विघटनात्मक आन्दोलन चल रहे थे पर आक्रमण के होते ही वे सभी आन्दोलन समाप्त हो गये और देश ने एकमत होकर चीनी आक्रमण का विरोध किया। उसने देश की एकरूपता को सच्चे रूप में हमारे सामने रख दिया है। यह सम्भव है कि पुनः ऐसी विघटनकारी शक्तियां अब भी सिर उठाने लगें, अतः हम सबको साहित्य, संगीत, क्रीड़ा, नृत्य आदि के प्रचार के द्वारा तथा स्वार्थवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद आदि के विनाश के द्वारा उनका विनाश करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। वास्तव मे हमें सहिष्णु बनना चाहिए, दूसरों के विचारों का आदर करना चाहिए तथा पारस्परिक विभिन्नता की अपेक्षा समानता पर अधिक ध्यान देना चाहिए, तभी हम अपनी एकता को अक्षरण रखकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगें। हमें अपने तन-मन-धन के साथ राष्ट्र की एकता बनाने एवं चिरस्थायी रखने का सदैव प्रयत्न करते रहना होगा। तभी हम राष्ट्र को पुनः "सोने की चिड़िया" नाम से अलंकृत कर सकेंगे।

परमात्मा वह दिन शीघ्र लाये जब हम विघटनात्मक तत्वों को समाप्त कर, एक स्वर में गा उठें- "जय भारत, जय भारती"।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम	—	काशी की पाण्डित्य परम्परा"
लेखक	—	आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक	—	विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी
कुल पृष्ठ	—	909
मूल्य	—	125 रुपये

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री एम०ए०,
साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

संस्कृत वाङ्मय के विद्वान् पंडित बलदेव उपाध्याय के अमूल्य ग्रन्थरत्नों की परम्परा में एक अन्य नवीन ग्रन्थरत्न जुड़ गया है— "काशी पाण्डित्य की परम्परा"। आचार्य बलदेव उपाध्याय के नाम और उनकी अलौकिक शेमुषी और वैदुष्य से संस्कृत जगत् चिर-परिचित है। और उनके द्वारा रचित भारतीय दर्शन, संस्कृत साहित्य का इतिहास, बौद्ध दर्शन मीमासा आदि प्रकृष्ट ग्रन्थों का साहाय्य लेकर उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी अनेक परीक्षावारिधियों का सन्तरण सुगमता से कर चुके हैं। प्रस्तुत विशाल ग्रन्थ "काशी को पाण्डित्य परम्परा" काशी से सम्बन्ध रखने वाले संस्कृत के प्रसिद्ध और अज्ञातनामा विद्वानों का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है। ऐसा करके जहां लेखक ने दिवंगत अज्ञात संस्कृत पण्डितों पर उपकार किया है वहीं जिज्ञासु पाठकों पर महान् अनुग्रह किया है। काशी की पाण्डित्य परम्परा के लगभग आठ सौ वर्षों का यह प्रामाणिक इतिहास संस्कृत भाषा के अनुरागियों, जिज्ञासुओं तथा शोधकर्ताओं के लिए एक अमूल्य निधि सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ में 1200 ई० से 1950 ई० तक हुए पण्डितों को लेखक ने तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी में उन पण्डितों की गणना है जिन्होंने वाराणसी में ही अध्ययन किया है और वाराणसी में ही रहकर अध्यापन करते हुए अशेष जीवन यापित किया है। द्वितीय श्रेणी के विद्वान् वे हैं जिन्होंने ज्ञानार्जन तो काशी में किया किंतु उसका वितरण भारत के अन्य प्रान्तों में जाकर किया। तृतीय श्रेणी में उन पंडितों का समावेश किया है जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन तो काशी के बाहर किया किंतु काशी के छात्रों को पाण्डित्य का प्रसाद दिया।

इस महनीय ग्रन्थ की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसमें पण्डितों का केवल

जीवन परिचय ही नहीं दिया गया बल्कि उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का विश्लेषण और समालोचन प्रथम बार उपन्यस्त किया गया है। पण्डितों के रुचिकर और ज्ञानवर्धक संस्मरणों से इस ग्रन्थ की उपादेयता और अधिक बढ़ गयी है। संस्कृत के प्राचीन कवियों के ऐतहासिक अनुशीलन का श्लाघनीय प्रयास तो इससे पूर्व कई बार हो चुका किन्तु गत दो सौ वर्षों के अन्दर उत्पन्न हुए काशी के विख्यात संस्कृत के पण्डितों का सामूहिक रूप से एकत्र वर्णन अभी तक अनुपलब्ध था। प्रस्तुत रचना इसी अभाव की पूर्ति का श्लाघनीय प्रयास है। लेखक ने कवियों और विद्वानों के दुर्लभ चित्रों की यथाशक्ति खोजकर प्रस्तुत ग्रन्थ में यथास्थान उपन्यस्त किया है। इस ग्रन्थ के महत्व का प्रतिपादन इसी बात से हो जाता है कि लेखक ने स्वयं यह स्वीकार किया है "आन्नदातिरेक की अभिव्यक्ति होने के कारण मैं प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने जीवन की सौभाग्यशाली रचनाओं में विशेष महनीय मानता हूँ।"

ग्रन्थ की भाषा सरल हिन्दी है जो लेखक की आत्माभिव्यंजना में पूर्ण सक्षम है। "काशी की पाण्डित्य परम्परा" का उद्देश्य है काशीस्थ विद्वन्मण्डली की विमल कीर्ति-गाथा का संरक्षण उनके आदर्श जीवन से संस्कृत विद्या की उपलब्धि तथा ऋषि ऋण से मोचन। यह ग्रंथ शोधार्थियों के लिए वरदान है। यदि मन में संस्कृत के दुर्लभ एवं प्रशस्त रचना प्रसूनों के संग्रह की अभिलाषा है, सुभाषित रत्नों के चमत्कार से चित्त को स्वर्णकान्त बनाने की इच्छा है तथा सत्साहित्य के रसास्वादन का अवार्य लोभ है तो प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वात्मना सेवनीय है।

— 0 —

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽएनांसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वा मुञ्चत्वंहसः॥

यजु० 20–16॥

अर्थ :—जागृतावस्था, स्वप्नावस्था में भी यदि कोई पाप हम करें तो उस समग्र पाप और प्रमाद से सूर्य के समान वर्तमान होते हुए आप मुझको पृथक् करें।

सम्पादकीय वक्तव्य

यह पत्रिका सर्वप्रथम उन लेखकों के प्रति आभार प्रगट करती है जिन्होंने अपने लेख द्वारा इस पत्रिका की श्रीवृद्धि की है। इसके साथ ही पत्रिका सम्पादक-मण्डल के सभी सदस्यों को उनके हार्दिक सहयोग हेतु धन्यवाद देती है। डा० विजयपाल शास्त्री (प्रवक्ता दर्शन-विभाग), डा० त्रिलोकचन्द (प्रवक्ता, दर्शन-विभाग) तथा डा० भगवानदेव पाण्डेय प्रवक्ता हिन्दी-विभाग) ने सराहनीय सहयोग दिया है अतः पत्रिका उनके प्रति विशेष आभार प्रगट करती है। आशा है भविष्य में भी उनका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

पत्रिका की परामर्शदात्री समिति के सभी सदस्य अपने-अपने विषयों के विद्वान हैं। उन सभी के सहयोग के लिए धन्यवाद देना उचित होगा। पत्रिका को सबसे अधिक लाभ श्रद्धेय पं० सत्यकाम विद्यालंकार के मार्गदर्शन से हुआ है। पत्रिका उनके प्रति अत्यन्त आभार प्रकट करती है।

पत्रिका के गतांक में "राष्ट्रीय एकता" विशेषांक हेतु लेख आमंत्रित किए गये थे। उसकी अंतिम तिथि 28 फरवरी 84 रखी गई थी। अंतिम तिथि तक जो लेख प्राप्त हुए उनमें से दो लेख इस अंक में प्रकाशियत किए गए हैं। शेष लेखों का स्तर उचित न होने के कारण उन्हें प्रकाशनयोग्य नहीं समझा गया। उक्त दोनों लेखों को पुरस्कृत किया जायेगा।

इस विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति जी ने सदैव उत्साह बढ़ाया है तथा मार्गदर्शन भी किया है। उनके प्रति जितना भी आभार प्रगट किया जाये कम है। श्रद्धेय आचार्य जी, कुलसचिव जी, उपकुलपति जी तथा वित्त-अधिकारी जी की कृपा के बिना इस पत्रिका का प्रकाशन समय पर न हो पाता। इसके लिए पत्रिका उनके प्रति आभार प्रगट करती है।

इस विश्वविद्यालय में विजिटिंग फेलो के रूप में हिन्दी के विद्वान डा० विश्वनाथ मिश्र डी०फिल०, डी०लिट० के कई व्याख्यान हुए। उनके व्याख्यानों ने मौलिक चिन्तन के लिए नई दिशा प्रदान की। पत्रिका उनके प्रति भी अपना आभार प्रगट करती है।

आशा है पत्रिका आगे भी अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगी।

—सम्पादक